श्री हेमचन्द्राचार्यविरचित

।। श्री वीतरागस्तव : ।।

हिन्दीपद्यानुवाद For **विजयशीलचन्द्रसूरि**^{Dnly}

www.jainelibrary.org

कलिकालसर्वज्ञ प्रभु श्रीहेमचन्द्राचार्य विरचित वीतरागस्तव : ॥

विजयशीलचन्द्रसूरि – विरचित 'हिन्दी' पद्यानुवादसहित : ।।



श्री हेमचंद्राचार्य

राजा कुमारपाळ

कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्य नवम जन्मशताब्दी स्मृति संस्कार – शिक्षण निधि अमदावाद ई. – १९९६ वीतरागस्तव - 'हिन्दी' पद्यानुवादसहित : ॥ (पद्यानुवाद : विजयशीलचन्द्रसूरि)

प्रथम आवृति - सं. २०५२ ई. १९९६ प्रतः १०००

सर्वाधिकार सुरक्षित

किंमत : रु. ६० - ००

प्रकाशक : कलिकालसर्वज्ञ

श्रीहेमचन्द्राचार्य नवम जन्मशताब्दी रम्मृति संस्कार शिक्षणनिधि, अमदावाद C/o पंकज सुधाकर शेठ २७८, माणेकबाग, आंबावाडी, अमदावाद - ३८० ०१५

प्राप्तिस्थान : सरस्वती पुस्तक भंडार

११२, हाथीखाना, रतनपोल, अमदावाद - ३८० ००१

मुद्रक : ग्राफिक स्टुडियो, भद्र. अमदावाद - १

विदुषी साघ्वीश्री देवीश्रीजी - कमलप्रभाश्रीजीनां शिष्या स्व. साघ्वी श्री सूर्यप्रभाश्रीजी महाराज तथा तेमना शिष्या स्व. साघ्वी श्री प्रज्ञशीलाश्रीजी महाराजनी संयम साधनानी अनुमोदनार्थे तेमज पुण्यस्मृतिनिमित्ते सद्गृहस्थ तरफथी आ प्रकाशकनमां उदार आर्थिक सहयोग प्राप्त थयो छे.

पृष्ठ
٩
٩
8
6
99
ዓዓ
9८
રર
રપ
ર્ઙ
३२
34
36
89
88
୪७
цо
૬
կե
५९
६२

प्रकाशकीय

कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्यनी नवमी जन्मशताब्दीना अवसरे, आचार्य श्री विजय सूर्योदयसूरिजी महाराजनी प्रेरणा तेम ज मार्गदर्शन अनुसार स्थपायेला आ ट्रस्टना उपक्रमे चाली रहेली ज्ञानोपासनारूप प्रकाशन-प्रवृत्तिना अन्वये, श्री हेमचन्द्राचार्यनी तत्त्वगर्भित भक्तिरचना 'वीतराग स्तव' नुं प्रकाशन करतां अमे घणा ज हर्षनी लागणी अनुभवीए छीए.

'वीतराग स्तव' ए हेमचन्द्राचार्य भगवंतनी यशनामी अने अत्यंत लोकप्रिय रचना छे. तेना उपर विविध भाषाओमां अनेक विवेचनो, अनुवादो, पद्यानुवादो वगेरे लखायां छे. प्रस्तुत पुस्तकमां तेनो हिन्दी पद्यानुवाद आपवामां आव्यो छे, जे आचार्य श्री विजयशीलचन्द्रसूरिजीए रचेल छे.

आ पुस्तकना प्रारंभमां **'वीतराग स्तव'**नो काव्यरसास्वाद करावता पोताना लेखनो हिन्दी अनुवाद मूकवा देवा बदल प्रा. **जयंत** कोठारीना अमे आभारी छीए.

पुस्तकनुं सुघड मुद्रणकाम करी आपवा बदल श्री रतिलाल लालभाई शाह (ग्राफिक प्रोसेस स्टुडियो, अमदावाद)ना पण अमो आभारी छीए

आशा राखीए के अमारुं आ प्रकाशन पण विद्वद्भोग्य तेम ज लोकभोग्य बनीने लोकादर पामशे.

कार्यालय :

C/o. शेठ लालभाई दलपतभाई 'अक्षय', ५३, श्रीमाळी सोसायटी, नवरंगपुरा, अमदावाद-९.

लि.

क.स. हेमचन्द्राचार्य न.ज. श. स्मृति सं. शिक्षण निधि अमदावादना ट्रस्टीओ તીર્થસ્વરૂપ અને સંચમપથદાતા માતા કુસુમબહેનની ધન્ય સ્મૃતિમાં

આવું આવું સર્જતો પેખવાની મૂંગી ઇચ્છા નિત્ય એના હિયાની



श्री हेमचन्द्राचार्ये जेमनी आराधना करी होवानुं मनाय छे, ते श्री सरस्वतीमातानी छबी : अजारी (आश्रम) पिंडवाडा (राजस्थान) Jain Education International

श्री हेमचन्द्राचार्य अने तेमनुं 'वीतरागस्तव'

'वीतराग स्तव' ए 'कलिकालसर्वज्ञ' तरीके जगविख्यात जैनाचार्य श्री हेमचन्द्राचार्यनी एक भक्तिप्रवण अने प्रसन्न स्तोत्र-रचनानुं नाम छे। व्याकरणशास्त्र, अलंकारशास्त्र, काव्यशास्त्र, तर्कशास्त्र, छंदशास्त्र, शब्दकोषो, पुराणग्रन्थो, काव्यग्रन्थो अने स्तोत्रो - आम केटकेटला विषयो के क्षेत्रोमां आ महान प्रतिभाए पोताना पांडित्यने प्रयोज्युं छे ! एक विद्वान कोइ एक शास्त्रमां पोतानी कलम चलावे अने ते विषयमां तेनो शब्द, तेनुं सर्जन मान्य बने ते समजी शकाय तेम छे; परंतु एक ज विद्वान विद्यानी अनेक शाखाओमां सर्जन करे अने ते सर्जन सैकाओ पछी पण मान्य ज बन्यां रहे ए तो साचे ज अनन्य - अनुपम घटना लागे छे।

एमना जीवन-कवनने वर्णवता उपलब्ध - घणा बधा आधारो / संदर्भो जोया वांच्या तपास्या पछी, आ मुद्दे मंथन करीए तो, तेओना आवा सर्वदेशीय साहित्यसर्जनना मूळमां त्रण कारणो महत्त्वनां जणाइ आवे छे. १. माता सरस्वतीनो प्रसाद, २. गुरुजनोनी कृपा, ३. पोतानी साधुचरित निराडंबर, निर्मळ अने निरहंकार भावभरी नम्रता । दर्प, पोतानी नामना के वाह वाह माटेनी एषणा, बीजाओने पोताथी हीणा-ऊणा गणवा-गणाववानी तुच्छता के क्षुद्रता - आवां बधां असत् तत्त्वोनी तेमना जीवनमां सदंतर गेरहाजरी जोवा मळे छे - आ मुद्दाने जुदी ज परंतु विशद रीते उपसावतां श्रीमद् राजचंद्रे नोंध्युं छे के -

"श्री हेमचंद्राचार्य महाप्रभावक बलवान क्षयोपशमवाळा पुरुष हता । तेओ धारत तो जुदो पंथ प्रवर्तावी शके एवा सामर्थ्यवान हता । तेमणे त्रीश हजार घरने श्रावक कर्या । त्रीश हजार घर एटले सवाथी दोढ लाख माणसनी संख्या थइ । श्री सहजानंदजीना संप्रदायमां एक लाख माणस हशे । एक लाखना समूहथी सहजानंदजीए पोतानो संप्रदाय प्रवर्ताव्यो, तो दोढ लाख अनुयायीओनो एक जुदो संप्रदाय श्री हेमचन्द्राचार्य धारत तो प्रवर्तावी शकत । पण श्रीहेमचन्द्राचार्यने लाग्युं हतुं के संपूर्ण वीतराग सर्वज्ञ तीर्थंकर ज धर्मप्रवर्तक होइ शके, अमे तो ते तीर्थंकरनी आज्ञाए चाली तेमना परमार्थमार्गनुं प्रकाशन करवा प्रयत्न करनारा । वीतराग मार्गनो परमार्थ प्रकाशवारूप लोकानुग्रह श्री हेमचन्द्राचार्ये कर्यो । तेम करवानी जरूर हती । वीतरागमार्ग प्रति विमुखता अने अन्य मार्ग तरफथी विषमता, ईर्ष्या आदि शरू थइ चूक्यां हतां । आवी विषमतामां वीतरागमार्ग भणी लोकोने वाळवा लोकोपकारनी तथा ते मार्गना रक्षणनी तेमने जरुर जणाइ । अमारुं गमे तेम थाओ, आ मार्गनुं रक्षण थवुं जोइए, ए प्रकारे तेमणे स्वार्पण कर्युं । पण आम तेवा ज करी शके । तेवा भाग्यवान, माहात्म्यवान, क्षयोपशमवान ज करी शके ।

जुदां जुदां दर्शनोनो यथावत् तोल करी अमुक दर्शन संपूर्ण सत्यस्वरूप छे एवो निर्धार करी शके तेवा पुरुष लोकानुग्रह, परमार्थ प्रकाश, आत्मार्पण करी शके।"

'वीतराग स्तव' ए आवा सत्पुरुषे, पोताना जीवनना उत्तरार्धमां, राजा कुमारपाळनी विनंतिथी रचेली एक सुमधुर संस्कृत रचना छे । कुमारपाळना अनुगामी राजा अजयपालना मंत्री यशःपाले 'वीतराग स्तव'ना वीस प्रकाशोने वीस दिव्य गुलिका (गोळी)ओ गणावी छे । (मोहराजपराजय नाटक, कर्ताः यशःपाल, पृ. १२३, गा.ओ.सी. वडोदरा) । प्रबंधोमां मळता वर्णन प्रमाणे राजा कुमारपाळ आ २० प्रकाश तथा योगशास्त्रना १२ प्रकाश - ए ३२ प्रकाशोनो नित्य प्रातः स्वाध्याय करवा द्वारा आध्यात्मिक दंतधावन कर्या पछी ज बाह्य दंतशुद्धि करता ।

जैन संघमां आ 'वीतराग स्तव'नुं अनेरुं आकर्षण सदाय रह्युं छे । सैकाओथी तेनुं अध्ययन तथा पठन जैन साधु-साध्वीओ करतां रह्यां छे, एटलुं ज नहि, पण श्रावक-श्राविकाओनो पण मोटो वर्ग आ 'स्तव' भणतो रहे छे । आ 'स्तव'ना आवा आकर्षण पाछळनुं रहस्य, ते हेमचन्द्राचार्यनी रचना छे ते तो खरुं ज, परंतु ३२ अक्षरोना

वीतराग स्तव : सविवेचन-काव्यानुवाद, कर्ता : डॉ. भगवानदास म. महेता. ई : १९६५

Jain Education International

अनुष्टुप् छंदना १८९ श्लोकोमां पथरायेली, प्रसाद-माधुर्य अने ओज जेवा काव्यगुणोथी मधमघती, अत्यंत सरळ छतां तर्कसंगत अर्थो तथा भावोथी मढेली, अने आ 'स्तव'नुं गान करनारना हृदयमां सहज भक्तिरस प्रेरती पद्यावली - ए आ 'स्तव' प्रत्येना आकर्षणनुं वास्तविक रहस्य छे।

अध्यर्ध शतक अने वीतराग स्तवः तुलना

ईस्वीसनना प्रथम शतकमां बौद्ध धर्मकवि मातृचेट नामे एक स्तुतिकार थइ गया । विख्यात बौद्ध कवि अश्वघोषना तेम ज सम्राट कनिष्कना वृद्ध समकालीन तरीके मनायेला आ स्तुतिकारे "अध्यर्ध शतक" नामे एक अद्भुत रचना करी छे । जेमां तेणे १२ प्रकाशमां तथागत बुद्धनी स्तवना करी छे । निराडंबर शैली अने भक्तिनी संघनता - आ स्तोत्रमां पदे पदे जोवा मळे । पंडित सुखलालजीना कथन अनुसार स्तुतिकार मातृचेटनी स्तोत्रपद्धतिनी तेम ज तेणे पोतानां स्तोत्रोमां वर्णवेला भावोनी छाया उत्तरवर्ती अनेक कविओ तथा स्तूतिकारो पर पडी छे, जेनाथी जैन स्तूतिकारो तथा कविओ पण मुक्त नथी रह्या । आनां अनेक उदाहरणो पंडितजीए टांक्यां छे, जेमां मातृचेटना 'चतुःशतक' नामे ४०० पद्यो धरावता स्तोत्रनी पद्धतिए हरिभद्राचार्यनी विंशति-विंशिका (२० × २० = ४००) नामे रचना रचाइ होवानुं तथा मातृचेटना 'अध्यर्धशतक'नी स्पष्ट छाया हेमाचार्य कृत 'वीतराग स्तव'मां होवानुं तेमणे दर्शाव्युं छे । आनी विशद जाणकारी माटे पं. सुखलालजी कृत 'दर्शन अने चिंतन'मां प्रकाशित "स्तुतिकार मातृचेट अने तेमनूं अध्यर्धशतक" नामे तेमनो निबंध द्रष्टव्य छे । ते लेखमां तेमणे अध्यर्धशतक तथा वीतराग स्तवनां केटलांक पद्योनी तुलना पण करी देखाडी छे, तेमांथी बे-चार दाखला आपणे पण जोईए :

 अध्यर्ध. सर्वदा सर्वथा सर्वे यस्य दोषा न सन्ति ह ।
सर्वे सर्वाभिसारेण यत्र चावस्थिता गुणाः ॥ ९ ॥ तमेव शरणं गन्तुं तं स्तोतुं तमुपासितुम् ।

		तस्यैव शासने स्थातुं न्याय्यं यद्यस्ति चेतना	2
	वीतराग.	सर्वे सर्वात्मनाऽन्येषु दोषास्त्वयि पुनर्गुणाः	11 99, 2 11
		त्वां प्रपद्यामहे नाथं त्वां स्तुमस्त्वामुपारमहे।	
		त्वत्तो हि न परस्त्राता किं ब्रूमः किमु कुर्महे	॥ ६, ५ ॥
ર.	अध्यर्ध .	अव्यापारितसाधुस्त्वं त्वमकारणवत्सलः ।	
	_	असंस्तुतसखश्च त्वं त्वमसम्बन्धबान्धवः	99
	वीतराग.	अनाहूतसहायस्त्वं त्वमकारणवत्सलः ।	
		अनभ्यर्थितसाधुस्त्वं त्वमसम्बन्धबान्धवः	93, 9
ર .	अध्यर्ध.	उपशान्तं च कान्तं च दीप्तमप्रतिघाति च ।	
		निभृतं चोर्जितं चेदं रूपं कमिव नाक्षिपेत्	५२
	वीतराग.	प्रियङस्फटिकस्वर्णपद्मरागाञ्जनप्रभः ।	
		प्रभो <u>।</u> तवाऽधौतशुचिः कायः कमिव नाक्षिपेत्	11 २, १ ॥
8.	अध्यर्ध.	परार्थेकान्तकल्याणी कामं स्वाश्रयनिष्ठुरा ।	
		त्वय्येव केवलं नाथ ! करुणाऽकरुणाऽभवत्	६४
	वीतराग.	हिंसका अप्युपकृता आश्रिता अप्युपेक्षिताः ।	
		इदं चित्रं चरित्रं ते के वा पर्यनुयुञ्जताम्	।। ୩୪, ६ ।।
ч.	अध्यर्ध.	नोपकारपरेऽप्येव-मुपकारपरो जनः ।	
		अपकारपरेऽपि त्व-मुपकारपरो यथा	998
	वीतराग.	तथा परे न रज्यन्त उपकारपरे परे।	,
	_	यथाऽपकारिणि भवा-नहो सर्वमलौकिकम्	II १४, ५ II
દ્વ.	अध्यर्ध.	अहो स्थितिरहो वृत्तमहो रूपमहो गुणाः ।	
	- 0	न नाम बुद्धधर्माणा-मरित किञ्चिदनद्भुतम्	
	वीतराग.	शमोऽद्भुतोऽद्भुतं रूपं सर्वात्मसु कृपाऽद्भुत सर्वाऽद्भुतनिधीशाय तुभ्यं भगवते नमः	1 90, C
	· · · · · · · · · · · · · · · · · · ·		н то, с п
19.	अध्यर्ध.	येन केनचिदेवं त्वं यत्र तत्र यथा तथा । चोनिनः उनां प्रतिपनं उत्तराणणिं सहनिवर्तरो	
		चोदितः स्वां प्रतिपदं कल्याणीं नाऽतिवर्तसे	II 446 II

यत्र तत्र समये यथा तथा योऽसि सोऽस्यभिधया यया तया। वीतदोषकलुषः स चेद् भवानेक एव भगवन्नमोऽस्तु ते।। ३१।। (अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका)

वळी, बंने रचनाओनी ऊंडाणथी तुलना करतां घणीवार एवुं पण जोवा मळे छे के निरूपणनी रीति समान होय अने छतां विषय के भाव तद्दन जुदा होय । मातृचेटे कोइ मुद्दो जे रीतथी के शैलीथी निरूप्यो होय ते ज शैलीनो विनियोग हेमचन्द्राचार्य पण करे, पण तेमनो निरूपणीय मुद्दो साव जुदी ज भातनो होय ।

आ बधुं जोतां मातृचेटनां पद्योनी केवी प्रगाढ असर हेमचन्द्राचार्यनी रचना उपर पडी हशे, ते अत्यंत सरळताथी कही शकाय तेम ज अटकळी शकाय तेम छे ।

बीजी महत्त्वनी वात ए छे के मातृचेटे अध्यर्धशतकनां १२ प्रकरणोने १२ स्तवनां नाम आप्यां छे : उपोद्घात स्तव, निरुपम स्तव, रूप स्तव, वचन स्तव, प्रणिधि स्तव, हेतु स्तव, अद्भुत स्तव वगेरे । तो हेमाचार्ये वीतराग स्तवना २० प्रकाशोने आ प्रमाणे ज २० नामो आप्यां छे : प्रस्तावना स्तव, सहजातिशय स्तव, कर्मक्षयजातिशय स्तव, जगत्कर्तृत्व निरास स्तव, एकान्तनिरास स्तव, कलि स्तव, अद्भुत स्तव, हेतुकर्तृनिरास स्तव - वगेरे । अने आ रीते विचारतां 'वीतराग स्तव' एवुं नाम ज योग्य लागे छे; 'वीतराग स्तोत्र' नहि, ए पण, प्रसंगोपात्त, अहीं समजी लेवुं घटे ।

भारतीय धर्म-दर्शनपरंपरामां आदान-प्रदाननी एक सुदीर्घ अने विवेकपूर्ण परंपरा पहेलेथी ज रही छे । श्रुतस्थविर अने दर्शन प्रभावक प्रवर्त्तक मुनिराज श्री जंबूविजयजी महाराजे शोध्युं छे के श्री उमास्वाति महाराजे मुनिने आहार लेवानी प्रक्रियाना वर्णनमां व्रणलेप, अक्षोपांग अने पुत्रपलनां त्रण दृष्टांतो (प्रशमरति, १३५) वर्णव्या छे त नुं मूळ बौद्ध महाकवि अश्वघोषना सौन्दरनन्द काव्यमां मल्युं छे ।

भगवान हरिभद्राचार्ये षोडशकमां एक स्थळे 'दृष्टिसम्मोह'

दोषनूं रचरूप बताव्यूं छे, जेने काळांतरे हेमचन्द्राचार्ये 'वीतराग स्तव' मां 'दृष्टिराग'ना (६-१०) नामे वर्णव्यो छे । तेनुं पगेरुं मातृचेटना अध्यर्धशतकमां आ रीते मळे छे :

एवमेकान्तकान्तं ते दृष्टिरागेण बालिशाः । मतं यदि विगर्हन्ति नास्ति दृष्टिसमो रिपुः ॥ (८,२)

अने उपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराजे श्री हरिभद्रसरि महाराजना ग्रंथोने अनुसरीने पोताना ग्रंथोमां श्रुतमय, चिन्तामय अने भावनामय एम त्रिविध बोधनी वात करी छे, तेनुं मूळ पण बौद्ध ग्रंथोमां मळे तेवो पूरो संभव छे । अध्यर्धशतकमां तो ते त्रणे बोधनी वात छेज:

आगमस्याऽर्थचिन्ताया भावनोपासनस्य च ।

कालत्रयविभागोऽस्ति नान्यत्र तव शासनात् ॥ (८-९)

तो बीजी बाजू, आपणे त्यां कल्पसूत्रमां शक्रस्तवना अधिकारमां आवता - 'दीवो ताणं सरणं' एवा भगवान जिनेश्वरनां विशेषणोनो उपयोग मातृचेटे आ रीते कर्यो छे :

त्वमौघैरुह्यमानानां द्वीपस्त्राणं क्षतात्मनाम् ।

शरणं भवभीरूणां मुमुक्षूणां परायणम् ॥ (९-७)

आम ऊंडा उतरीए तो जणाशे के आदान-प्रदाननी पण एक उदार अने मार्मिक परंपरा छे ।

'वीतराग स्तव'नी वाचना अंगे

'वीतराग स्तव'नी वाचना प्रसिद्ध ज छे । छतां प्राचीन ताडपत्र प्रतिओ तपासतां तेमां केटलाक पाठो जुदा अथवा वधु योग्य पण मळी आवे छे । 'वीतराग स्तव'ना केटलाक प्रकाशो 'त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित'मां कोइ कोइ तीर्थंकरनी इंद्र के राजा वगेरे द्वारा थयेली स्तवनाना रूपमां पण गूंथाया होइ, त्रिषष्टिनी पोथीओमां पण केटलाक पाठांतरो प्राप्त थाय छे । एवा जे थोडाक पाठांतरो प्राप्त थया ते जे ते स्थळे पादनोंधरूपे मूक्या छे । अहीं तेना बे-त्रण नमूना तपासीए :

श्री हेमचन्द्रप्रभवाद्वीतरागस्तवादितः ।

कुमारपालभूपालः प्राप्नोतु फलमीप्सितम् ॥

आ पद्य, प्रवर्तमान पद्धति प्रमाणे पहेला प्रकाशना अंते पण छे अने छेल्ला (२०मा) प्रकाशना अंते पण होय छे । वास्तवमां आ पद्य वीसे प्रकाश पूरा थया पछी, छेल्ले, एक ज वार छे; ते पण वीसमा प्रकाशने छेडे "इति वीतराग स्तोत्रे आशीःस्तवो विंशः प्रकाशः" – एवी समाप्ति थया पछी ज । जो के आ वात ताडपत्रीय वाचनानी छे । पाछळथी १५-१६मा शतकनी लखायेली कागळनी प्रतोमां आ बाबतमां वैविध्य होवानुं जणाय छे । परंतु, ते प्रतोमां पण आ पद्य तो प्रांते एक ज स्थळे जोवा मळे छे ।

२. अष्टम प्रकाशना अंतिम श्लोकनो उत्तरार्ध आ प्रमाणे हालमां प्रसिद्ध छे : "त्वदुपज्ञं कृतधियः प्रपन्ना वस्तुतस्तु सत् ॥" आ पाठ खंभातनी त्रिषष्टि. ताडपत्र प्रतिमां तथा पाटणनी ताडपत्र प्रतिमां आवो छे :

"त्वदुपज्ञं कृतधियः प्रपन्ना वस्तु वस्तुसत् ॥"

आ बे पाठोमां रहेलो तात्त्विक तफावत तज्ज्ञोनी नजरमां अवश्य आवशे।

३. १९मां प्रकाशनुं प्रसिद्ध पद्य -

"वीतराग ! सपर्यातस्तवाज्ञापालनं परम् ॥"

ए छे । आ पद्यनो प्रवचनो वगेरेमां भरपेट उपयोग थाय छे। खास करीने 'आज्ञा'नुं प्रतिपादन तो आ श्लोक विना भाग्ये ज थाय छे । आ पाठनो अर्थ अत्यारे आवो थाय छे : "हे वीतराग ! (तारी) पूजा करतां पण तारी आज्ञानुं पालन ए वधु महत्त्वनुं छे ।" अने हवे जुओ खं.ता.-पा.ता. वगेरे प्राचीन प्रतिओनो पाठः

"वीतराग ! सपर्याऽपि तवाज्ञापालनं परम् ॥"

अर्थात, "हे वीतराग ! तमारी आज्ञानुं श्रेष्ठ पालन (ए) पण (तमारी) पूजा छे."

अर्थसंदर्भ केटलो बधो बदलाइ गयो ! अने हवे श्री हरिभद्राचार्यना "पुष्पाद्यर्चा तदाज्ञा च." ए श्लोकथी जेओ परिचित हशे तेमने तो परमात्मानी हरिभद्राचार्य-सूचित पुष्पपूजामां एक प्रकार "प्रभुआज्ञानुं पालन" छे ते स्मरणमां हशे ज । ए ज वात अहीं हेमाचार्ये करी छे । आवी मार्मिक वातने आपणे त्यां प्रवर्तेला सुगम अने स्थूल पाठभेदे केटली बधी फेरवी दीधी छे ! सुज्ञोए आ मूळ पाठने पाछो अपनाववो ज घटे, एमां ज शास्त्रशुद्धि ने शास्त्रनी वफादारी गणाय ।

पण संशोधननी आ एक मजा छे। मूळ कर्ताए जुदा ज शब्दो के भावो आलेख्या होय; कालांतरे - समय जतां - ते कृति लोकप्रिय ने लोकभोग्य बने अने तेमां क्यारेक लेखदोषथी तो घणीवार कोइना हस्तक्षेपने कारणे आवा नानकडा फेरफारो थइ जाय, अने पछी तो ते ज मूळ कर्ताना पाठ तरीके अपनावाइ जाय; ए स्थितिमां जूनी-नवी प्रतिओ एकत्र करीने मूळ के साचो - कर्ताने अभिप्रेत - पाठ कयो हशे, ते खोळी काढवुं - ते पण बहु महत्त्वनी ने रसदायक शास्त्रसेवा छे।

अहीं जे थोडाक पाठांतरो मल्या छे तेमां खंभातना तथा पाटणना भंडारनी ताडपत्र प्रतिओनो मुख्यत्वे उपयोग थयो छे।

प्रस्तुत पद्यानुवादनी पूर्वभूमिका

अगाउ कह्युं छे तेम 'वीतराग स्तव' जैन संघनी परंपरागत लोकप्रिय रचना रही छे, अने तेनुं आकर्षण आजे पण घणुं घणुं छे। आ रचना उपर संस्कृत टीकाओ तो अनेक रचाइ ज छे, परंतु तेना हिंदी-गुजराती विवेचनो के अनुवादो पण विविध लेखकोए कर्या छे। उपरांत आ रचनाना पद्यानुवादो पण थया छे, जेमां सन्मित्र श्री कर्पूरविजयजी महाराजनो तथा डॉ. भगवानदास म. महेतानो गुर्जर पद्यानुवाद प्रसिद्ध छे। जो के आ अनुवादो लोकप्रसिद्ध के लोकभोग्य बन्या जणाता नथी। केम के मूळ कृति ज जो सौ भणता-बोलता-गाता होय, तो पछी तेना अनुवाद तरफ झाझो रस न जागे ते समजी शकाय तेवी बाबत छे। जे मूळ कृति लोकजीभे नथी चडी, तेना अनुवाद वधु लोकभोग्य छे: दा.त. रत्नाकर पच्चीशी। पण 'वीतराग स्तव'नी बाबतमां तो मूल रचना ज लोकभोग्य छे।

सं. २०४५मां कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्यनी नवमी जन्म शताब्दी उजवाती हती । आ निमित्ते, कांड्क अवनवुं करवा-कराववाना मनोरथो हैये सतत उछल्या ज करता हता । ए वखते चातुर्मास भगवाननगरना टेकरे (अमदावाद) हतुं । एक सांजे कोइ प्रयोजनवश त्यांथी शहेरमां पांजरापोळ उपाश्रये पूज्य गुरु भगवंत श्रीसूर्योदयसूरिजी महाराज पासे जवानुं बन्युं । रस्तामां चालतां चालतां एकाएक ज, साव अनायासे, कोइ ज पूर्वविचार के विकल्प विना, 'वीतराग स्तव'ना १७मा प्रकाशना श्लोकोनो हिंदी पद्यानुवाद ऊगवा मांडयो । हरिगीतनो लय पकडाइ गयो, ने एक के बाद एक पंक्तिनो फुटारो थये गयो । हुं य दंग रही गयो के आम केम बने ? आटली झडपथी आवुं केम ऊगे ? पण अंदरनो प्रवाह उत्कट न पामी शकाय तेवो हतो । जोतजोतामां ए अष्टक आम ज रचाइ गयुं । रचायुं ने पछी 'हेम स्वाध्याय पोथी'मां छपाव्युं । ते जोतां ज पू. गुरु भगवंते प्रसन्न थइने पूछयुं : तें बनाव्युं ? तो एक काम कर, आखा 'वीतराग स्तव'नो आवो अनुवाद कर; पण हिंदीमां ज ।

में ते पळे गांठ वाळी के वहेले मोडे आ काम करीश । एक तो सर्जन थाय ने बीजुं हेमचन्द्राचार्य महाराजनी भक्ति पण थाय । हिंदीनो महावरो पण आ मिषे थशे एवुं ऊंडे ऊंडे खरुं ।

ए पछी वर्षो वह्यां । पण विचित्रता ए थइ के स्थिरतामां आ न ऊगे । ने विहार चालतो होय त्यारे आपमेळे ऊगवा मांडे । ए चालतां चालतां वारंवार ऊभा रही कागळ पर आडाटेडा अक्षरोमां टपकावी लउं, ने स्थाने जइ सरखी रीते नोंधी लेतो ।

९

पहेला अनुभव परथी एम लागतुं हतुं के वधुं सरळ हशे । पण जेम जेम आगळ वधतो गयो तेम तेम कठिनता पण अनुभवाती गइ । शब्देशब्दना अंतरंगमां डोकियुं करवुं पडे, तेनो वास्तविक मर्म शोधवो -पकडवो पडे; स्थूल शब्द ने अर्थ जुदो लागे, ने तेना भाव के तात्पर्य कांइ न्यारा ज जडे; आवुं घणा श्लोकोमां बन्युं । क्यारेक तो एकाद श्लोक पर एवो अटकी जउं के महिनाओ सुधी तेनो मेळ न पडे । ने हठ एवी के ए न आवडे - न ऊगे, त्यां सुधी आगळ पण वधुं नहि ।

आम ने आम आगळ वधतां छेवटे आ वर्षे आ अनुवाद पूरो थयो । हेमशताब्दीना पर्वे आरंभेलुं आ कार्य हीरशताब्दीना पर्वे पूर्ण थयुं ते पण एक आनंदजनक योगानुयोग छे ।

आ अनुवादकर्म निमित्ते 'वीतराग स्तव'ना सतत सेवनमां रहेवानुं मल्युं ते पण हृदय-प्रदेशमां उजवाता अनुभूतिना एक महोत्सव जेवी घटना बनी रही । श्री हेमचन्द्राचार्य जेवी समर्थ – प्रतिभाना अक्षरदेहना अंतरंग सांनिध्यमां रहेवानुं मण्युं ते तो नफामां ज गणाय । अलबत्त, श्री गुरुभगवंतनी कृपा विना आ कदी शक्य न बने ।

अंतमां आ अनुवाद विद्वानोना करकमलमां मूकवानी क्षणे एटली नम्र विज्ञप्ति के आमां क्यांय, कोइ पण प्रकारनी क्षति जणाय, छंदोभंग जोवा मले, के स्तुतिकारना आशयथी विपरीत निरूपण के अर्थघटन थयुं लागे, तो ते तरफ मारुं ध्यान दोरे, जेथी ते क्षति सुधारी लेवानी मने तक मळे।

श्रावण सुदि १५, २०५२ - विजयशीलचन्द्रसूरि भावनगर

हेमचन्द्राचार्य प्रणीत 'वीतराग स्तव' रस एवं काव्य की दृष्टि से

जयंत कोठारी

अनु. जशवंती दवे

विदित है कि संस्कृत काव्यशास्त्र में पहले आठ ही रस बताये गये थे। बाद में नौवाँ शांत रस जोडा गया है। शांत रस माने शम या निर्वेद के भाव का चित्रण। संभव है कि शम या निर्वेद के भावका - जहाँ रागादि कोई भावना बची न हो, उन सारी भावनाओं का शमन हो गया हो उस स्थितिका - चित्रण काव्यत्व या रसत्व कैसे प्राप्त कर सके ऐसी समस्या होगी। श्वेत रंग रंगहीनता ही है अतः वह मनोरम नहीं बन सकता वैसे वीतरागता या निर्लेपता भी कोरी पट्टी, निर्वर्ण स्थिति ही है। उसका वर्णन कैसे किया जाय ? उसे रसमय कैसे बनाया जाय ?

इस प्रश्न का उत्तर हमें हेमचन्द्राचार्य विरचित 'वीतराग स्तव' में से मिलता है । वीतराग स्थिति का वर्णन करनेवाली यह कृति है फिर भी उसने काव्यत्व एवं रसत्व प्राप्त किया है । इस कृति का अनुशीलन करने से समझ में आता है कि केवल शमभाव या निर्वेदभाव का निरूपण अशक्यवत् है, उसमें दूसरे किसी भाव का अनुप्रवेश अनिवार्य है । यहाँ विस्मय, देवरति, भक्ति एवं उसके संचारिभावों का गुम्फन किया गया है, अर्थात् शांत रस के निरूपण में अद्भुत, भक्ति आदि रसों का अनुप्रवेश हुआ है । अद्भुत के आधार है वीतरागदेव की अन्यदेवविलक्षणता, अनन्यता, असाधारणता, अलौकिकता, ऐश्वर्य इत्यादि । भक्ति के आधार है वीतरागदेव प्रति रति, शरणागति, आत्मनिंदा, समर्पणभाव आदि । अब देखें यह किस प्रकार किया गया है।

वीतरागदेव की निर्वेद एवं निवृत्ति की स्थिति का प्रत्यक्ष वर्णन भले ही असंभव हो पर वे अलोकसामान्य है एसा तो जरूर बताया जा सकृता है । अतः वीतरागदेव में यह नहीं है, वह नहीं है ऐसा तो वर्णित किया जा सकता है । हेमचन्द्राचार्य ने अन्य देवों के चरित्रलक्षणों के सामने वीतरागदेव के निर्वेद-निवृत्ति को रखकर उनकी विलक्षणता को उभारा है । जैसे कि, अन्य देव कई लोगों का कोप से निग्रह करते हैं, उन्हें वशमें लाते हैं, तो तुष्ट होकर कुछ लोगों पर अनुग्रह करते हैं । (१९.२) वीतरागदेव ऐसे रोष या तोष के भाव से अलिप्त हैं । वीतरागदेव अगर तुष्ट या प्रसन्न नहीं होते तो वे फल कैसे देंगे ऐसा प्रश्न उपस्थित होता है । तो उसका जवाब यह है कि अचेतन चिंतामणि आदि भी फल देते हैं तो रागादिभावों से मुक्त वीतरागदेव फल क्यो नहीं देंगे ? (१९.३) इस प्रकार अन्यदेव विलक्षणता से कवि वीतरागदेव की अलौकिकता स्थापित करते हैं ।

वीतरागदेव अन्य देवों के समान प्रवृत्तिपरक नहीं हैं तथा उनकी कोई भौतिक उपाधियाँ नहीं हैं यह बात ठोस तथ्यों से और लाक्षणिक वाक्यछटा से प्रस्तुत की गई है :

न पक्षिपश्रसिंहादिवाहनासीनविग्रहः ।

न नेत्रगात्रवक्त्रादिविकारविकृताकृतिः ॥	१८.२
न शूलचापचक्रादिशस्त्रांककरपल्लवः । नांगनाकमनीयांगपरिष्वंगपरायणः ॥	٩८.३
न गर्हणीयचरितप्रकंपितमहाजनः । न प्रकोपप्रसादादिविङम्बितनरामरः ॥	۹८.४
न जगज्जनस्थेमविनाशविहितादरः ।	

न लास्यहास्यगीतादीविप्लवोपप्लुतस्थितिः ॥ १८.५

अन्य देव, पशु या पक्षी के वाहन पर बैठते हैं (जैसा कि सरस्वती मयूरवाहना है इत्यादि), वीतरागदेव का ऐसा कोई वाहन नहीं है। दूसरे देवों की आकृति, नेत्र, मुख आदि के विकारों से युक्त होती है (जैसे कि काली बाहर नीकली हुई जिहवायुक्त मुखवाली है), वीतरागदेव की आकृति में ऐसा कोई विकार नहीं है। और देवों के हाथमें त्रिशूल, बाण, चक्र आदि आयुध होते हैं। (जैसे कि शंकर के हाथ में त्रिशूल), वीतरागदेव कोई आयुध धारण नहीं करते। और देव स्त्रिओं के कमनीय अंगों का आलिंगन किये हुए होते हैं (जैसे कि

Jain Education International

शंकर की गोद में पार्वती), वीतरागदेव किसी अंगना की देह का आलिंगन करने को तत्पर नहीं होते । अन्य देव अपने निंद्य चरित्र से महाजनों को कंपित करनेवाले या प्रकोप-प्रसाद इत्यादि से नरों की एवं देवों की विडंबना करनेवाले होते हैं, वीतरागदेव में ऐसा कुछ नहीं है । और देव जगत की उत्पत्ति, स्थिति तथा विनाश के कार्यो में रुचि रखते हैं, वीतरागदेव को ऐसी कोई रुचि नहीं है । और देव हास्य-लास्य आदि के संक्षोभ से युक्त स्थिति में रहते हैं, वीतरागदेव ऐसे किसी संक्षोभ से रहित शांत मूर्ति हैं ।

ऐसे वीतरागदेव का देवत्व ही कैसे होगा, यह प्रश्न अवश्य उपस्थित होता है, लेकिन आचार्यश्री दृष्टांत देते हैं कि प्रवाह के साथ बहते हुए पर्ण, तृण, काष्ठ आदि की बात बुद्धिगम्य है, लेकिन प्रवाह के प्रतिकूल बहती हुई वस्तु कैसे प्रतीत हो ? (१८.७) तात्पर्य यह है कि वीतरागदेव का देवत्व लौकिक बुद्धि से ग्राह्य नहीं । उनके चरित्र की निरुपाधिकता ही उनकी विशेषता है, विलक्षणता है, अनन्यता है । यह विलक्षणदेवत्व हमारे में अहोभाव जागृत करता है, हमारे हृदय को विस्मय से भर देता है । इस प्रकार शांत एवं अद्भुत का संयुक्त अनुभव होता है ।

उद्धृत पंक्तियों में भाषाभिव्यक्ति की जिस कला का आविर्भाव हुआ है वह भी रसपोषक है। 'न' से शुरू होनेवाले वाक्यों की छटा, समासबहुल पदावली की घनता तथा सर्वत्र सुनाई देनेवाले वर्णानुप्रास का रणझणकार (१८.२ में 'ह' तथा 'त्र', १८.३ में 'ड्ग', १९.५ में 'स्य' और 'प्ल' के आवर्तन देखिये) भाषाभिव्यक्ति को वैचित्र्यशोभा एवं प्रभावकता प्रदान करता है।

वीतरागदेव की अलौकिकता प्रदर्शित करते हुए कविने विरोधाभास, विषम, विशेषोक्ति इन अलंकारों का आश्रय लिया है वह भी कैसा सफल बन पाया है ! लोकव्यवहार में प्रभुत्व - स्वामित्व की निशानी यह है कि किसी को कुछ देना, प्रसन्न होकर उपहार देना तथा किसी का कुछ छीन लेना, दण्ड करना या कर वसूल करना । वीतरागदेव की खूबी यह है कि वे किसी को कुछ देते नहीं, किसी का कुछ छीन नहीं लेते, फिर भी उनका प्रभुत्व - उनका शासन प्रवर्तमान है । (१९.४) तदुपरांत

अनाहूतसहायस्त्वं त्वमकारणवत्सलः । अनभ्यर्थितसाधुस्त्वं, त्वमसंबंधबान्धवः ॥ १३.१

सामान्यरूप से किसी को बुलाने पर वह सहायता करने आता है, वह वात्सल्य या प्रीति रखता है तो उसके पीछे कोई कारण होता है, अच्छाई दिखाता है तो हमारी अभ्यर्थना से और बन्धुजन बना रहता है किसी रिश्ते के कारण, लेकिन वीतरागदेव संसार के इन नियमों से, इस लोकनीति से परे हैं। वे बिना बुलाओ ही सहायक होते हैं, निर्व्याज वत्सल हैं, प्रार्थना किये बिना ही वे भलाई करते हैं, बिना किसी रिश्ते के रिश्तेदार हैं, उनके चरित्र की यह लोकविरुद्धता है, अलौकिकता है।

कवि कहते हैं, वीतरागदेव की काया बिना धोयी हुई तथापि स्वच्छ (अधौतशुचि, २.१) है, उनके अंग गंध द्रव्यों के उपयोग के बिना भी सुगंधित (अवासित-सुगन्धित २.२) है, उनका मन विलेपन किये बिना ही रिनग्ध-मुलायम प्रेमभावयुक्त (१३.२) है तथा उनकी वागभिव्यक्ति बिना मार्जन भी उज्ज्वल (१३.२) है, इससे पता चलता है कि उनका सब कुछ हमारी परिचित लोकस्थिति से कितना अनूठा है। यह अनूठापन हमारे चित्त को विस्मय से भर देता है।

कवि ने वीतरागदेव में परस्पर विरोधी गुणलक्षण प्रदर्शित किये हैं यह घटना उनके अलौकिक स्वरूप को स्फुट करके चमत्कार उत्पन्न करती है। वीतरागदेव में एक ओर से सारे प्राणियों के प्रति उपेक्षा है - उदासीनभाव है, दूसरी ओर से उपकारिता है। (१०.५) एक ओर से निर्ग्रंथता है, तो दूसरी ओर से चक्रवर्तिता है। (१०.६) अलबत्त यह विरोध आभासी विरोध है। उसका निरसन इस प्रकार हो सकता है:

वीतरागदेव में उदासीनता इस अर्थ में है कि वे संसारी जीवों के सुख-दुःख से लिप्त नहीं होते, उनके लिये प्रवृत्त नहीं होते, वे निवृत्तिमार्गी हैं, किन्तु इस संसार में उनका विचरण ही संसारी जीवों के लिये उपकारक बनता है । अपने आचार एवं उपदेश से वे उन्हें सन्मार्ग के प्रति ले जाते हैं । वीतरागदेव की निग्रंथता-परिग्रहरहितता स्वयंस्पष्ट है तथा उनका धर्मशासन प्रवर्तमान है इस अर्थ में वे चक्रवर्ती हैं । जगतके चक्रवर्ती विविध प्रकार के वैभवों से आवृत्त होते हैं उससे यह अलग चीज है ।

वीतरागदेव के निम्नलिखित चरित्रवर्णन में दिखाई देनेवाला विरोध कुशलता से रखा गया है :

अरक्तो भुक्तवान्मुक्तिम् अद्विष्टो हतवान्द्विषः । अहो ! महात्मनां कोऽपि महिमा लोकदुर्लभः ॥ ११.२

वीतरागदेव रागी नहीं हैं (अरक्त) तथापि भोगी हैं - अलबत्त मुक्ति का भोग करनेवाले हैं । वे द्वेषरहित हैं (अद्विष्ट), फिर भी शत्रुओं का हनन करते हैं - कामक्रोधादि शत्रुओं का ।

इस प्रकार विविध रूपसे किया गया वीतरागदेव की लोकदुर्लभ महिमाका गान एक ओर से उनकी वीतराग दशाको - उनके निवृत्तिभाव को मूर्त करता है तो दूसरी ओर से हमें आश्चर्यभाव में लीन करता है। शांत तथा अद्भुत रस के प्रवाह साथ साथ बहते हैं।

वीतरागदेव के इस प्रकार के चरित्रवर्णन में भक्तिभाव भी अनुस्यूत है। वीतरागदेव का अलौकिक चरित्र कवि को सिर्फ आश्चर्य से अभिभूत करता है ऐसा नहीं है, वह उनको अपने प्रति आकर्षित करता है, उन्हें अपना अनुरागी बनाता है। उनकी शरण का स्वीकार करने की प्रेरणा देता है। दूसरे से लेकर पाँचवें प्रकाश तक वीतरागदेव के अतिशयों का वर्णन किया गया है। उसमें देवों द्वारा रचित उनके समवसरण स्थान तथा छन्नचामरादि के वैभव का वर्णन हमारे चित्तको आश्चर्य से प्रभावित करता है तथा साथ में उनके प्रति प्रीति भी उत्पन्न करता है किन्तु इसके अतिरिक्त कई प्रकाशों में भक्तिभाव स्वतन्त्र रूप से और विस्तार से अनेक संचारिभावों से पुष्ट करके अभिव्यक्त किया गया है। जैसे कि पंद्रहवें प्रकाश में वीतरागशासन की अवज्ञा करनेवाले, उनका द्वेष करनेवाले की निंदा की गई है तथा उस शासनकी अपने को हुई प्राप्ति की धन्यता आर्द्रभाव से और हृदयंगम ढंग से प्रकट की गई है:

तेभ्यो नमोऽञ्जलिरयं, तेषां तान् समुपास्महे । त्वच्छासनामृतरसैर्यैरात्माऽसिच्यतान्वहम् ॥ १५.७ भुवे तस्यै नमो यस्यां, तवपादनखांशवः । चिरं चूडामणीयन्ते ब्रूमहे किमत्ः परम् ॥ १५.८ जन्मवानस्मि धन्योऽस्मि कृतकृत्योऽस्मि यन्मुहुः । जातोऽस्मि त्वद्गुणग्रामरामणीयकलम्पटः ॥ १५.९

वीतरागदेव के शासन के अमृत रस से अपनी आत्मा को प्रतिदिन सींचनेवालों की उपासना करने में, उन्हें अंजलि धरकर प्रणाम करने में तथा वीतरागदेव के चरण के नखों की किरणें जिसकी चूडामणिरूप बनी हैं वह उनकी विहारभूमि को भी प्रणाम करने में हृदय की आर्द्रता है तथा "इससे अधिक क्या कहें" ? इन शब्दों से भक्तिभाव की पराकाष्ठा सूचित की गई है । वीतरागदेव के गुणसमूह की रमणीयता में लुब्ध होने की धन्यता तो कैसी पर्यायपदों के आवर्तन से मानों उभरती हो इस प्रकार व्यक्त हुई है ! "जन्मवान बना हूँ, कृतकृत्य हुआ हूँ, धन्य हुआ हूँ" स्थूल दृष्टि से पर्याय समान ये तीनों शब्द उष्ट भावकी चढ़ती हुई श्रेणी दिखाते हैं । अगर हम उसे समझ सके तो ही इसकी तीव्रता का हम सचमुच अनुभव कर सकेंगे । 'जन्मवान्' माने सच्चा अस्तित्व - जीवन जिसने प्राप्त किया है वह, 'कृतकृत्य' माने जिसका अस्तित्व सार्थक हुआ है ऐसा और धन्य माने सदभाग्य, ऐश्वर्य जिसने प्राप्त किया है वह ।

सोलहवें प्रकाशमें आत्मनिंदापूर्वक वीतरागस्तुति की गई है। इसमें मनकी दोलायमान स्थिति का वर्णन है - एक ओर से वीतरागदेव के धर्ममत से मनमें ऊठनेवाली शम रस की ऊर्मियाँ और दूसरी ओर से अनादि संस्कारवशता से उत्पन्न रागादि वृत्तिओं की मूर्च्छना। (१६.२-३) यहाँ भी पद की पुनरावृत्ति से मन की चंचलता को बहुत ही अच्छे ढंग से प्रत्यक्ष की गई है:

क्षणं सक्तः क्षणं मुक्तः क्षणं क्रुद्धः क्षणं क्षमी । मोहाद्यैः क्रीडयैवाहं कारितः कपिचापलम् ॥ १६.४

"क्षण में आसक्त, क्षण में मुक्त, क्षण में क्रुद्ध, क्षण में क्षमावान् -इस प्रकार मोहादि वृत्तिओं ने खेल रचाकर मुझ से बन्दर जैसा चापल्य करवाया है।"

अपने दुष्कर्मों का गहरा संताप "शिर पर अग्नि जलाया" (१६.५) ऐसी अलंकारोक्ति से कविने प्रकट किया है और "मेरे समान कोई कृपापात्र नहीं है" (१६.९) ऐसा कह कर अपनी दीनता सूचित की है। अन्त में वीतरागदेव की शरण में जाकर "तारो रे तारो" ऐसी आर्जवपूर्वक बिनती की है। (१६.७)

सत्रहवें प्रकाश में भक्ति धर्मोत्साह का रूप लेती है। अतः स्पष्ट है कि यहाँ वर्णित संचारिभाव सोलहवें प्रकाश से अलग ही है। यहाँ सत्पथ के प्रति अनुराग, सुकृतों की अनुमोदना तथा वीतरागशासन में रहने का संकल्प व्यक्त किया गया है। (१७.१-५) निर्मल क्षमाभाव (१७.६) और असंगता (१७.७) के मनोभाव से प्रतीत होता है कि अगले प्रकाश से यहाँ भक्तिमानस की ऊंची भूमिका अभिप्रेत है। असंगता का चित्रण प्रभावोत्पादक है: "एकोऽहं नास्ति मे कश्चिन्न चाहमपि कस्यचित्"। अत एव अब दैन्य नहीं रहा और अदैन्य का उदगार व्यक्त होता है – तवाड्घ्रिशरणस्थस्य मम दैन्यं न किञ्चन"। (१७.७) हाँ, अब वीतरागदेव की शरण प्राप्त हो चुकी है।

बीसवें प्रकाश में भक्तिभाव की पराकोटि समान आत्मसमर्पण का आलेखन किया गया है । वीतरागदेव के नित्य दर्शनसुख की अभिलाषा द्वारा प्रीतिभक्ति प्रकट हुई है वह तो हमारे हृदय को भी आर्द्र कर देनेवाली है :

त्वद्वक्त्रकान्तिज्योत्स्नासु निपीतासु सुधास्विव । मदीयैर्लीचनाम्भोजैः प्राप्यतां निर्निमेषता ।। २०.५

"सुधा के समान तुम्हारे मुख की कान्तिरूपी ज्योत्स्ना का पान करते हुए मेरे नयनकमलों को निर्निमेषता प्राप्त हो" ।

वीतरागदेव के प्रति आसक्ति-रति यह भक्ति ही है, क्यों कि यह पुण्यभाव की प्रेरक है

मददृशौ त्वन्मुखासक्ते हर्षबाष्पजलोर्मिभिः । अप्रेक्ष्यप्रेक्षणोद्भूतं क्षणात्क्षालयतां मलम् ॥ २०.२

"तुम्हारे मुख के प्रति आसक्त मेरी आँखें हर्षजन्य अश्रु प्रवाह से - न देखने योग्य वस्तु को देखने से उत्पन्न मल को क्षण में धो डालें।"

अपना सर्वस्व वीतरागदेव की प्रीति-सेवाभक्ति - अर्थ हो ऐसी कामना करके कवि सर्वसमर्पणभाव में लीन होते हैं :

त्वदास्यविलासिनी नेत्रे, त्वदुपास्तिकरौ करौ। त्वद्गुणश्रोतृणी श्रोत्रे भूयास्तां सर्वदा मम । २०.६

"मेरे नेत्र हमेशा आपके मुख में रमण करें, हाथ आपकी उपासना - सेवा करें, कान आपके गुणों का श्रवण करें ।"

और शुद्ध शरणागति को मूर्त करनेवाला यह चित्र देखिये : "तुम्हारे पैर में लोटते हुए मेरे मस्तक पर, पुण्य के परमाणु समान तुम्हारे पैर की रज चिरकाल वास करे ।" (२०.१)

किन्तु शरणागति की - समर्पणभाव की पराकाष्ठा तो इस श्लोक में है :

तव प्रेष्योऽस्मि दासोऽस्मि सेवकोऽस्म्यस्मि किङ्करः । ओमिति प्रतिपद्यस्व नाथ ! नातः परं ब्रुवे ।। २०.८

'प्रेष्य', 'दास', 'सेवक', 'किंकर' इन पर्यायवाची शब्दों से शरणागति का - समर्पण का भाव मानो सघन होता हो ऐसा अनुभव होता है । पर्यायशब्दोंकी अलग अलग अर्थच्छायाएँ सेवकभाव का विस्तार बताकर सर्वांगी शरणागति का सूचन करती है - 'प्रेष्य' माने बाहर आनेजाने वाला नौकर; 'दास' माने गुलाम; क्षुद्र पुरुष, 'सेवक' माने अंगसेवा करनेवाला; 'किंकर' माने क्या करूँ ऐसा पूछता रहता आदमी, सिर्फ आज्ञापालक हूँ ! इस शरणागति को 'अस्तु' कहकर स्वीकार कर लेने के लिये कवि वीतरागदेव को बिनति करते हैं और "इससे अधिक मैं कुछ कहता नहीं हूं" इन शब्दों से अपने प्रयत्नों की अवधि दिखाते हैं, और अपनी कथा समाप्त करते हैं ।

निःशंक यह कृति वीतरागकथा है और साथ में वह कविकथा भी है । वीतरागचरित्र में शांत रस की सामग्री है तथा उसके महिमानिरूपण में अद्भुत रस की सामग्री है तो कविकथा में कवि के मनोभाव के आलेखन में भक्ति रस की सामग्री है । मानों रसों के पुनित त्रिवेणीसंगम की यहाँ रचना हुई है ।

कवि ने इस काव्य में अपना भक्तिभाव प्रवाहित किया है, वैसे भक्ति की महिमा का गान भी किया है । एक पूरे प्रकाश (नवम) में कलिकाल की प्रशंसा की गई है वह वस्तुतः भक्ति का महिमागान है । कलियुग में सहजप्राप्य है भक्ति और कलियुग में भक्ति सत्वर फल देनेवाली है । इसी लिये कलियुग की महिमा है । एक ओर से यह व्याजस्तुति है क्योंकि दुःखार्त मनुष्य भक्ति की ओर सहजरूप से मुड़ता है और कलि दुःखार्त मनुष्य भक्ति की ओर सहजरूप से मुड़ता है और कलि दुःखभरा काल (दुषमकाल) है, बहुत दोषों से भरा है और 'वामकेलि' (उलटी क्रिया करनेवाला, अनिष्टकारी) है । व्याजस्तुति हंमेशा चातुर्य से उपजती है और यहाँ हम चातुर्य के एक विशेष रस का आस्वाद करते हैं । ऐसे कलिकाल को वह वीतरागदर्शन कराता है, इसी लिये कवि कृतज्ञतापूर्वक नमस्कार करते हैं इसमें कविहृदय की आर्द्रता प्रकट होती है तथा कलिकथा के साथ कविकथा जुड़ जाती है ।

आचार्यश्री ने मात्र कविचातुर्य का ही विनियोग किया है ऐसा नहीं, उन्हों ने अपनी तर्कपटुता भी प्रदर्शित की है। जैसे कि वे कहते हैं "विपक्ष अगर विरक्त है तो वह तू ही है और वह रागवान् है तो विपक्ष नहीं।" (६.३) 'विरक्त' और 'रागवान्' के संकेतों को बदलकर कविने यहाँ युक्ति की है यह बात स्पष्ट है। विपक्ष वीतरागदेव प्रति विरक्त हो, उसे उनके प्रति राग न हो तो उसमें उन्होंने सर्वसामान्य विरक्तता का आरोपण किया और इस लिये विपक्ष को वीतरागदेव के स्थान पर रखा तथा 'रागवान्' शब्द को वीतरागदेव के अनुरागी के अर्थ में लेकर उसके विपक्षत्व का निरसन कर दिया।

ईश्वर जगत्कर्ता है ऐसे मत का कविने सातवें प्रकाश में खंडन किया है उस में भी उनकी तर्कपटुता का हम अनुभव करते हैं । (अलबत्त, ये सारे परंपरागत तर्क हैं)

क्रीडया चेत्प्रवर्तेत रागवान्स्यात् कुमारवत् । कृपयाऽथ सृजेत्तर्हि सुख्येव सकलं सृजेत् ।। ७.३

कर्मापेक्षः स चेत्तर्हि न स्वतन्त्रोऽस्मदादिवत् । कर्मजन्ये च वैचित्र्ये किमनेन शिखण्डिना ॥ ७.५

ईश्वर ने अगर लीला रूप में ही जगत का सर्जन किया हो तो वह बालक के समान रागी ठहरते हैं और उन्हों ने कृपा से जगत का सर्जन किया हो तो जगत सुखी होना चाहिये । लेकिन जगत तो आधि-व्याधि-उपाधि से घीरा हुआ है । इस में ईश्वर की कृपालुता कहाँ दिखाई देती है ? ईश्वर यदि कर्म की अपेक्षा रखते हैं, जीवों को कर्मानुसार फल देते हैं तो उनकी स्वतन्त्रता कहां है ? वे तो हम जैसे ही बन गये और जगत का वैचित्र्य यदि कर्म का परिणामरूप है तो नपुंसक जैसे ईश्वर की आवश्यकता ही क्या है ?

आठवें प्रकाश में एकान्तवाद का खण्डन करके अनेकान्तवाद की स्थापना की है उसमें तो केवल शास्त्रबुद्धि का प्रवर्तन है । यह सारा खण्डन-मण्डन-व्यापार स्तवन के भावकाव्य का स्वरूप लुप्त करके उसे मानों शास्त्र के प्रदेश में ले जाता है । तर्क एक संचारिभाव है लेकिन वह तो कविबुद्धिजन्य तर्क, शास्त्रबुद्धिजन्य तर्क नहीं । विचार भी रसनीय बन सकता है, भावपोषक बन सकता है किन्तु इस प्रकार का दार्शनिक खण्डन-मण्डन अेक अलग ही वस्तु है । यह स्तवनकाव्य, बहुधा एक आस्वाद्य प्रशस्तिमूलक भावोत्कट रचना है, उस में इस प्रकार की खण्डन-मण्डन वृत्ति अलग पड जाती है और यह केवल कवि की रचना नहीं है, एक सांप्रदायिक आचार्य की रचना है इस बात का स्मरण कराती है ।

काव्य के मूल वस्तु से स्फुटित होनेवाले, उसे उपकारक बनानेवाले विचार भी यहाँ हमें मिलते ही हैं। कई विचार तो उनकी नूतनता से हमें आकर्षित करते हैं। जैसे कि, कवि कामराग और स्नेहराग से भी दृष्टिराग को अर्थात् मतानुराग को दुर्निवार मानते हैं। 'पापी' कहकर उनके प्रति घृणा व्यक्त करते हैं। (६-१०) वीतरागदेव की सेवा से उनकी आज्ञा के पालन को वे अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं। उनकी आज्ञा माने कर्मबंध करनेवाले कषायादि का त्याग और कर्मबंध का निवारण करनेवाले सम्यक्त्वादि का पालन । आज्ञापालन ही आत्मकल्याण करता है और आज्ञाका पालन न करने से संसार में भटकते रहना पडता है। सेवा-प्रसाधना में तो कवि दैन्य देखते हैं। (१९.४-८) इस प्रशस्तिमूलक काव्य में भी कवि की दृष्टि व्यक्तिपरक नहीं, तत्त्वपरक या गुणपरक है, इस बात का यह संकेत है। कवि वीतरागदेव को बिनति करते हैं कि मेरी प्रसन्नतासे तुम्हारी प्रसन्नता और तुम्हारी प्रसन्नता से मेरी प्रसन्नता इस अन्योन्य आश्रयता को नष्ट कर दो" (१०.१) इस में भी आत्मनिष्ठता की एक अनूठी भूमिका प्रस्तुत हुई है।

ये विचार कवि की अभिलाषाओं को, उनके जीवनलक्ष्य को प्रतिबिंबित करते हैं; अतः वे कविसंवेदन का अंश बनते हैं, भावरूप बनते हैं।

इस रचनाकी रससृष्टि एवं भावसृष्टि में कवि की हृदयसंपत्ति छलकती है, लेकिन वह हमारे लिये हृदय बनती है अपनी काव्यकला से, अपने अभिव्यक्तिकौशल से। इस अभिव्यक्तिकौशल के दो अंग हैं -अलंकार रचनाएं और अन्य कुछ उक्तिवैचित्र्य । विरोधमूलक अलंकारों के उदाहरण आगे दिये गये हैं । तदुपरांत सादश्यमूलक अलंकारों का भी यहाँ प्रचुरमात्रा में विनियोग किया गया है । शब्दालंकार है तथा एक साथ एक से अधिक अलंकारों का गुम्फन भी किया गया है । अंगांगिभाव से या मालारूप से प्रयुक्त रूपकादि हैं और अलंकार रचना की अन्य कई विदग्धताएं भी हैं । काव्य का यह प्रसिद्ध उपकरण कवि को कितना कुछ हस्तगत है इस बात से हमें अवगत कराता है । कवि की अलंकार रचना का वैभव उपभोग करने योग्य है ।

कुछ लाक्षणिक उदाहरण देखें। त्वय्यादर्शतलालीनप्रतिमाप्रतिरूपके। क्षरत्स्वेदविलीनत्व-कथाऽपि वपुषः कुतः ॥ २.४

यहाँ वीतरागदेवकी तुलना दर्पण में पडे हुए प्रतिबिंब से की गई है - उनके शरीर से प्रस्वेद नहीं निकलता इस लिये यह उपमा अरूढ एवं ताजगीपूर्ण है।

शब्दरूपरसस्पर्शगन्धारव्याः पञ्च गोचराः । भजन्ति प्रातिकूल्यं न त्वदग्रे तार्किका इव ।। ४.८

शब्दादि पाँच इन्द्रियविषयों की यहाँ तार्किकों के साथ तुलना की गई है - दोनों वीतरागदेव को प्रतिकूल हो इस प्रकारका वर्तन नहीं करते, उन्हें वश होकर रहते हैं । सामान्यरूप से उपमा में उपमान अप्रस्तुत होता है, लेकिन यहाँ 'तार्किका' उपमान अप्रस्तुत नहीं है, क्योंकि तार्किक - वादी (बौद्व सांख्य, नैयायिक, मीमांसक, चार्वाक ये पाँच) भी वस्तुतः वीतरागदेव के वश में हैं । इस सादृश्यरचना की यह विलक्षणता है।

निशि दीपोऽम्बुधौ द्वीपं मरौ शाखी हिमे शिखी । कलौ दुरापः प्राप्तोऽयं त्वत्पादाब्जरजःकणः ॥ ९.६

दुष्प्राप्य ऐसी वीतरागदेव की शरण (उनके पैरों की रजकण) कलियुग में प्राप्त हुई है इसके लिये यहाँ चार दृष्टान्तों की योजना की गई है - रात को दीया, सागर के बीच में द्वीप, मरुभूमि में वृक्ष और शीत में अग्नि | इस प्रकार यह दृष्टान्तमाला का उदाहरण हुआ | अप्राप्य की प्राप्ति का भाव विविध चित्रों से मूर्त होकर घुंटाता है |

मेरुस्तृणीकृतो मोहात्पयोधिर्गोष्पदीकृतः । गरिष्ठेभ्यो गरिष्ठो यैः पाप्मभिस्त्वमपोहितः ॥ १५.२

"महानों में भी महान् ऐसे तुम्हारी जिन पापीओं ने अवज्ञा की है उन लोगों ने मेरु को तृणवत् और सागर को गोष्पद समान किया है।" यहाँ भी दो तुलनाएं हैं तथा सघन वाक्यरचना से व्यक्त की गई है। वीतरागदेव का मेरु और सागर के साथ साम्य सूचित किया गया है उस में उनकी उच्चता एवं विशालता के संकेत पाये जाते हैं इस बात की ओर दुर्लक्ष नहीं होना चाहिये।

मन्दारदामवनित्यम् अवासितसुगन्धिनि । तवाङ्गे भृङ्गतां यान्ति नेत्राणि सुरयोषिताम् ॥ २.२

यहाँ दो अलंकार परस्पराश्रित रूप से प्रयुक्त किये गये हैं -वीतरागदेव के अंग मन्दारमाला के समान नित्य तथा अवासितरूप से सुगंधी हैं (उपमा) और देवांगनाओं के नेत्र वहाँ भौरे के रूप में मंडराते हैं (रूपक) । रूपक की रचना रूढिगत नहीं है यह बात ध्यान खींचती है।

एकोऽयमेव जगति स्वामीत्याख्यातुमुच्छ्रिता । उच्चैरिन्द्रध्वजव्याजात् तर्जनी जम्भविद्विषा ॥ ४.२

वीतरागदेव के समवसरणस्थान पर इन्द्रने (जम्भविद्विषा) इन्द्रध्वज रोपित किया है यह वस्तुतः उसने उँगली ऊँची की है । इस प्रकार यहाँ अपहनुति तथा हेतूत्प्रेक्षा ये दो अलंकार परस्पर संयुक्त हैं ।

यथानिच्छन्नुपेयस्य परां श्रियमशिश्रियः । ३.१४

इस उदाहरण में दो शब्दालंकार जुडे हुए हैं - 'य' का वर्णानुप्रास एवं 'श्रिय' का यमक।

कई स्थान पर एक से अधिक वर्णों का अनुप्रास भी दिखाई देता है "मारयो भुवनारयः" (३.७) "कलये वामकेलये" (९.४) इत्यादि तथा "लब्धा सुधा मुधा" (९५.३) इस प्रकार एक साथ तीन तीन प्रासशब्द प्रयुक्त किये गये हैं जो कवि का वर्णरचना-पदरचना-प्रभुत्व प्रदर्शित करता है।

दो से अधिक अलंकारों का गुम्फन कवि के सविशेष कौशल का हमें परिचय कराता है जैसे कि,

कल्याणसिद्धयै साधीयान् कलिरेष कषोपलः । विनाग्निं गन्धमहिमा काकतुण्डस्य नैधते ॥ ९.५

'कल्याण' शब्द पर यहाँ श्लेष है। कल्याण माने शुभ, मंगल तथा कल्याण माने सुवर्ण। इस श्लेष पर आधारित है रूपक अलंकार – कलियुग को कल्याणसिद्धि के लिये कसौटी-पथ्थर (कषोपल) कहा गया है। इस बात को दृष्टांत से समर्थित की गई है – अग्नि के बिना अगुरु की गन्धमहिमा का विस्तार नहीं होता वैसे कलियुग के बिना कल्याणसिद्धि नहीं होती।

गायन्निवालिविरुतैर्नृत्यन्निव चलैर्दलैः । त्वद्गुणैरिव रक्तोऽसौ मोदते चैत्यपादपः ।। ५.१

'रक्त' शब्द यहाँ श्लिष्ट है - चैत्यवृक्ष माने अशोकवृक्ष (१) रक्त अर्थात् लाल रंग का है और (२) रक्त अर्थात् वीतरागगुण का अनुरागी है । भौरों के गुंजारव से मानो गा रहा हो तथा हिलते हुए पत्तों से मानों नाच रहा हो ऐसी कल्पना की गई है । ये दोनों उत्प्रेक्षालंकार हैं तथा चैत्यवृक्ष के आनन्द के भाव को मूर्त करनेवाले चित्र हैं। इस श्लोक की स्वरव्यंजनरमणा सविशेष ध्यानाई है - प्रथम पंक्ति में 'न', 'व', 'ल', 'र' इन व्यंजनों के और 'इ', 'ऐ' इन स्वरों के और द्वितीय पंक्ति में 'ऐ' और 'औ' स्वरों के कितने आवर्तन हैं वह देखिये। इस स्वरव्यंजनरमणा में मानों अशोकवृक्ष गा रहा हो ऐसा सुनाई देता है, नृत्य करता हो ऐसा अनुभव होता है। इस प्रकार यह श्लोक काव्यकला के उत्कर्ष का एक सुंदर उदाहरण है।

तवेन्दुधामधवला चकास्ति चमरावली । हंसालिरिव वक्त्राब्जपरिचर्यापरायणः ॥ ५.४

यहाँ उपमा रूपक का रमणीय संश्लेष है : हंसपंक्ति के समान चमरों (उपमा) मुखरूपी कमल (रूपक) की परिचर्या करते हैं, लेकिन मजे की बात तो यह है कि कवि ने यहाँ अलंकार के उपर अलंकार चढाया है । हंसपंक्ति के समान चमरावली को चन्द्रप्रकाश के समान धवल कह कर उस की शुभ्रता पर चार चाँद लगा दिये हैं । अलंकारोक्ति का कवि का आवेश जो यहाँ दिखाई देता है वह उनके कवित्व का एक व्यापक लक्षण है ।

इन उदाहरणों में काव्य की रससृष्टि की चर्चा करते समय उद्धृत किये गये श्लोकों के अलंकारों के उदाहरण मिलाने से कवि के अलंकाररचना के कौशलका यथार्थ अंदाज हो सकेगा।

यह तो हुई शब्दालंकारों की तथा सादृश्यमूलक अलंकारों की बात। कवि ने और भी कई उक्तिवैचित्र्यों का लाभ उठाया है, जिनमें कई संस्कृत काव्यशास्त्र की बारीकी में अलंकारोक्ति में ही स्थान प्राप्त कर सकते हैं।

उदाहरण स्वरूप,

यस्त्वय्यपि दधौ दृष्टिमुल्मुकाकारधारिणीम् । तमाशुशुक्षणिः साक्षादालप्यालमिदं हि वा ॥ १५.४

"तुम्हारे प्रति सुलगते हुए लकडे के समान दृष्टि जिसने रखी है उसे अग्नि (आशुशुक्षणिः) साक्षात् - इतना बोलकर अब बस हो गया" उक्ति को बीचमें ही छोड़ कर अनुक्त शब्दों को मार्मिक ढंग से सूचित करने की यह एक लाक्षणिक रीति है। संस्कृत काव्यशास्त्र के अनुसार यह आक्षेप अलंकार है, लेकिन ऐसी पहचान के बिना भी हम इसके प्रभाव का अनुभव कर सकते हैं। कवि ने 'अलम्' (बस हो गया) और 'अधिक क्या कहूं' इस प्रकार की वाक्छटाएं मानों कथन की अवधि दिखाने के लिये बारबार प्रयुक्त की हैं।

पदपुनरावृत्ति इस रचना में बारबार दिखाई देती एक उक्तिछटा है । कुछ उदाहरण पहले आ चूके हैं । यहाँ एक विशेष उदाहरण देखें ।

शमोऽद्भुतोऽद्भुतं रूपं सर्वात्मसु कृपाद्भुता । सर्वादभुतनिधीशाय तुभ्यं भगवते नमः ॥ १०.८

'मधुराष्टक' की वाक्छटा की मस्ती में जो मग्न हुए हैं उनके मन का यह 'अद्भुत' लीला अवश्य हरण करेगी ।

क्वचित् आंशिक परिवर्तनवाली पदपुनरावृत्ति भी प्रभावोत्पादक वाक्छटा का निर्माण करती है । जैसे

तेन स्यां नाथवान् तस्मै स्पृहयेयं समाहितः । ततः कृतार्थो भूयासं, भवेयं तस्य किङ्करः ॥ ९.५

वीतरागदेवके साथ अनेकविध, अनेकरूपी संबंध की अभिलाषा यहाँ अभिव्यक्त हुई है। उस में प्रत्येक चरण में 'तद' (उस) के विविध रूप प्रयुक्त किये गये हैं यह लक्षणीय है। 'तेन' (उससे), 'तस्मै' (उसके प्रति), 'ततः' (उसके द्वारा), 'तस्य' (उसका) पद एक ही लेकिन विभक्तिरूप विभिन्न । 'तद' हमारे चित्त में सतत टकराता है।

क्वचित् एक ही शब्द को अलग अर्थछाया देकर उक्तिवैचित्र्य उत्पन्न किया है । 'क्वाहं पशोरपि पशुः' (कहाँ मैं पशुओं में पशु) (१७) में 'पशु' शब्द अबुधता के पर्यायरूप में है । पशुओं में पशु माने अत्यन्त निम्न स्तर का पशु, बिलकुल जड़ । 'पशुओं में पशु' इस उक्ति की एक अनोखी चोट है ।

व्यंग-व्यंग्यप्रधान कुछ उक्तिछटाएं भी लक्षणीय हैं । जैसे कि "तुम्हारा भी प्रतिपक्ष है और वह भी कोप से विक्षुब्ध है ऐसी किंवदन्ती लेकर क्या विवेकी लोग जीते हैं ? (६.२) अर्थात् अगर इस प्रकार की किंवदन्ती हो तो विवेकी पुरुषों को डूब मरना चाहिये । इसका अर्थ यह है कि यह किंवदन्ती झूठी है, वीतरागदेव का कोई प्रतिपक्ष हो ही नहीं सकता तथा विवेकी पुरुषों को चाहिये कि इसका खण्डन करें ।

कर्मापेक्षा रखनेवाले ईश्वर की कविने 'शिखंडी' (नपुंसक) जैसे भारी शब्द का प्रयोग करके सराहना की है यह हम पहले देख चुके हैं। लेकिन जगत्कर्ता ईश्वर में माननेवालों का कविने जिन शब्दों में उपहास किया है यह बात कवि को कैसी स्फूर्तिमंत एवं प्रहारात्मक अभिव्यक्ति भी सिद्ध है इस की हमें नूतन प्रतीति कराती है।

खपुष्पप्रायमुत्प्रेक्ष्य किञ्चिन्मानं प्रकल्प्य च । सम्मान्ति देहे गेहे वा न गेहेनर्दिनः परे ।। ६.९

"आकाशपुष्प समान किसी वस्तु की संभावना करके तथा किसी प्रमाण की कल्पना करके घर में गर्जन करनेवाले अन्य मतवादी देह में या गेह में - शरीर में या घर में फूले नहीं समाते । 'गेहेनर्दि' शब्द एवं 'देह में या घर में नहीं समाना' यह रूढिप्रयोग कैसा ताजगीपूर्ण और सबल, सचोट है !

वीतरागदेव विषयक इस रचना में विविध युक्तियों से रसत्व एवं काव्यत्व सिद्ध करने में हेमचन्द्राचार्य की उज्ज्वल कविप्रतिभा का निदर्शन है । स्तोत्रकाव्य की प्रदीर्घ परंपरा में इस रचना का स्थान कहाँ है तथा उस पर परंपरा का कितना प्रभाव है यह जाँच का एक अलग पहलू है । यहाँ तो हम रचना के रसत्व तथा काव्यत्व में अवगाहन करने के प्रसन्नकर अनुभव से कृतार्थ हों यही उपक्रम है।

संदर्भ : १. कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य विरचित वीतरागस्तव (सविवेचन सकाव्यानुवाद), भगवानदास मनसुखभाई महेता, १९६५। २. हेमसमीक्षा, मधुसूदन चिमनलाल मोदी, १९४२. ३. दर्शन अने चिंतन भा.१, पंडित सुखलालजी, १९५७ -'स्तुतिकार मातृचेट अने एमनुं अध्यर्द्धशतक' (इसमें इस स्तोत्रका 'वीतराग स्तव' पर प्रभाव दिखाया गया है।

कलिकाल सर्वज्ञ प्रभु श्री हेमचन्द्राचार्य विरचित

वीतरागस्तवः ॥

(विजय शीलचन्द्रसूरि विरचित 'हिन्दी' पद्यानुवाद सहितः) ॥

प्रथमः प्रकाशः ॥

यः परात्मा परं ज्योतिः, परमः परमेष्ठिनाम्।

आदित्यवर्णं तमसः, परस्तादामनन्ति यम् ॥ १॥

सर्वे येनोदमूल्यन्त, समूलाः क्लेश-पादपाः । मूर्घ्ना यस्मै नमस्यन्ति, सुरा-सुर-नरेश्वराः 1211

जडमुल से सब क्लेश-वृक्षों का समुन्मूलन किया जिनने अतुल-बल-वीर्यसे चिद्रूप प्रगटाया दिया। देवेन्द्र, फिर असूरेन्द्र और नरेन्द्र भी नित चरणमें वन्दन करे शिरसा. चहे रहना जिन्होंके शरणमें

प्रावर्त्तन्त यतो विद्याः, पुरुषार्थप्रसाधिकाः । यस्य ज्ञानं भवद्-भावि- भूतभावावभासकृत्

जो परमज्योतिस्वरूप परमातम परम-परमेष्ठिमें तेजोवलय अनूपम परन्तू सूर्य-सम कवि-दृष्टिमें । है गहन अधारा भरा जीवोंकी आन्तर-सृष्टिमें जो पार उसके जा विराजा योगियोंकी दृष्टिमें ॥ १॥

9

|| 2 ||

|| 3 ||

पुरुषार्थ-चारों-की-प्रसाधक सर्व-विद्या-सृष्टिका आदि प्रवर्तक, जो विधाता और⁹ आतम दृष्टिका । जो विगत-आगत-अरु अनागत-कालके सब भावका अनुभव प्रतिक्षण ज्ञानबल से करे सृष्टि-स्वभावका ।। ३ ।।

यस्मिन् विज्ञानमानन्दं, ब्रह्म चैकात्मतां गतम् । स श्रद्धेयः स च ध्येयः प्रपद्ये शरणं च तम् ॥ ४॥

चिद्रूप सत्ता बन गई आनन्द-घन-जिनकी अहो ! अद्वैत परम-ब्रह्मने पाया जहां परिपूर्ण तो । श्रद्धेय वह, आदेय भी वह, ध्येय भी मुझ है वही ग्रहु शरन उनकी आज वह सरताज है मेरा सही ।। ४ ।।

तेन स्यां नाथवांस्तस्मै, स्पृहयेयं समाहितः । ततः कृतार्थो भूयासं, भवेयं तस्य किङ्करः ॥ ५॥ निर्नाथ मैं उस नाथको पा कर सनाथ बनुं अभी तलसुं कि शुद्ध समाधिमें उसकी झलक पा लूं कभी । भव-कोटिमें दुर्लभ उसे पा कर कृतार्थ ठराउं मैं मुझको, - उसीका चरणकिंकर और आज बनाउं मैं ॥ ५॥

तत्र स्तोत्रेण कुर्यां च, पवित्रां स्वां सरस्वतीम् । इदं हि भवकान्तारे, जन्मिनां जन्मनः फलम् ॥ ६ ॥ स्तवना करूं उनकी, स्तवन से जीभको पावन करूं वाणीकी शक्ति जो मिली है मैं उसे सार्थक करूं । भवके गहन-वनमें भटकते भव्यजीवोंके^२ लिए निज^३-जन्मका सत्फल यही जो आपकी स्तवना करे ॥ ६ ॥

3

१. शुद्ध आतम. पाठां. ।

- २. जीवों को मिले. पाठां. ।
- ३. <u>नर जन्मका</u>, पाठां, ।

श्री हेमचंद्राचार्य

इति प्रस्तावनास्तवः ॥

आस्था अतूट तथापि मैंने कूट कर दिलमें भरी अब आपकी स्तुतिमें कदाचित् स्खलन हो या गडबडी कारुण्यमय ! नाराज ना होना परंतु मुझ उपर श्रद्धालु बालकका न सोहे क्या वचन रखलना सभर ? ।। ८ ।।

तथापि श्रद्धामुग्धोऽहं, नोपालभ्यः स्खलन्नपि। विशुद्धलापि वांग्वृत्तिः श्रद्धानस्य शोभते ॥ ८॥

पशु-दृष्टिमें भी पशु सदृश मर्तिमन्द मूरख मैं कहां ? त्रिभुवन-तिलक निर्द्वन्द्व विभुकी और रतवना भी कहां ?। अति विकट-अटवी को बिना पग पार करने जा रहा -उस पंगुकी हालत जुटा ली है विभो ! मैंने अहा ! ।।

क्वाऽहं पशोरपि पशु वींतरागस्तवः क्व च ?। उत्तितीर्षुररण्यानीं, पद्भ्यां पद्भुरिवाऽस्म्यतः || 0 ||





द्वितीयः प्रकाशः ॥

प्रियङ्गुस्फटिक स्वर्णपद्मरागाञ्जनप्रभः । प्रभो ! तवाऽधौतशुचिः, कायः कमिव नाक्षिपेत् ? ॥ १ ॥ नीला प्रियंगु, स्फटिक उज्ज्वल, स्वर्ण पीला चमकता फिर पद्मराग अरुण व अंजन रत्न श्यामल दमकता । इन-सा-मनोरम रूप मालिक ! आपका, नहाये बिना -भी शुचि सुगंधित, कौन रह सकता उसे निरखे बिना ? ॥ १ ॥ मन्दारदामवन्नित्यमवासितसुगन्धिनि । तवाङ्गे भृङ्गतां यान्ति, नेत्राणि सुरयोषिताम् ॥ २ ॥ ज्यों कल्पतरुके फूल नित-सुरभित तथा ताजा रहे बस ठीक वैसे अंग कोमल आपका प्रभु ! गहगहे । मृदुता अनूठी उसकी मीठी चाखकर लोलुप भई लावण्यमय-देवांगना-की आंख मधुकर बन गई ॥ २ ॥

दिव्यामृतरसास्वादपोषप्रतिहता इव । समाविशन्ति ते नाथ !, नाङ्गे रोगोरगव्रजाः 🛛 ॥ ३ ॥

देवेन्द्र सिंचित-अमृतमय-अंगुष्ठ पान करी करी परिपुष्ट अरु परिपूत काया बन गई प्रभु ! आपरी | लगता कि इसकी वजह से ही आपके तनमें सभी विषधर विषैले रोग के फैले नहीं जिनवर ! कभी || ३ ||

त्वय्यादर्शतलालीनप्रतिमाप्रतिरूपके । क्षरत्स्वेदविलीनत्वकथापि वपुषः कुतः ? ॥ ४॥

जिनवर स्वयं सुन्दर, सलोनी मूर्ति उनकी भी बनी प्रतिबिम्ब दर्पणमें पडे उसका, अजब शोभा बनी । प्रतिबिम्ब जैसा रूप मनभर आपका लोभावना प्रस्वेद उस से भी झरे यह कल्पना भी शक्य ना ।। ४ ।।

न केवल रागमुक्तं, वीतराग ! मनस्तव । वपुःस्थितं रक्तमपि, क्षीरधारासहोदरम् ॥ ५॥

अनगिनत अतिशय से अलंकृत अतुलबल अरिहंत हे ! नहि राग तेरे चित्त में टिक पा सका भगवंत हे ! टिकता भी क्यों कर ? क्योंकि करुणामय ! तुम्हारे देह में जो रक्त बहता दूध-सा वह भी अखिल-जग-नेह से ।। ५ ।।

जगद्विलक्षणं किं वा, तवाऽन्यद् वक्तुमीश्महे ?। यदविस्रमबीभत्सं, शुभ्रं मांसमपि प्रभो ! ॥ ६॥

दुनिया की रस्मों से विलक्षण बात मालिक ! आपकी कितनी कहुं ? कैसे कहुं ? क्षमता न मेरी अमाप-की | फिर भी कहुं इक बात निरुपम-रूपमय-तुझ-अंग में जो मांस, वह भी शुभ्र-सुरभित-शुभ-अलौकिक रंग में || ६ ||

जलस्थलसमुद्भूताः, सन्त्यज्य सुमनःस्रजः । तव निःश्वाससौरभ्य - मनुयान्ति मधुव्रताः ॥ ७ ॥

जलमें तथा स्थलमें खिले फूलों निराली भांतिके बट मोगरा अरु केतकी, जासुल, कमल बहु जातिके | मधुकर-निकर फरके न पर उनके निकट अब तो अहो ! निःश्वासमें तेरे सुवास भरी अधिक क्यों कि प्रभो ! || ७ ||

लोकोत्तर चमत्कारकरी तव भवस्थितिः । यतो नाहारनीहारौ, गोचरश्चर्मचक्षुषाम् ॥ ८ ॥

अवदात की करुं बात क्या जिनवर ! तुम्हारे अजबके ! आहार और निहार आंखों से न कोइ निरख सके | नहि यह अलौकिक, मगर लोकोत्तर-भवस्थिति, चतुरके भी चित्तमें करती चमत्कृति, आपकी जिन-सूर हे ! ।। ८ ।।

इति सहजातिशयस्तवः ॥





श्री हेमचंद्राचार्य 💎

राजा कुमारपाळ

Jain Education International

3

सर्वाभिमुख्यतो नाथ ! तीर्थकृन्नामकर्मजात् । सर्वथा सम्मुखीनस्त्व - मानन्दयसि यत् प्रजाः || 9 || जिन-नामकर्म-प्रभाव-से 'सर्वाभिमुखता'-नामसे कल्याणमैत्री विश्वकी प्रभू ! प्राप्त कर ली आपने ।

अब भव्य अभिमुख जो बने उनका परम हित साधकर आनन्ददायक आप सबके बन गये आनन्दमय ! || १ ||

यद योजनप्रमाणेऽपि. धर्मदेशनसद्मनि । सम्मान्ति कोटिशस्तिर्यग् - नू-देवाः सपरिच्छदाः ॥ २ ॥

तेषामेव स्वस्वभाषा - परिणाममनोहरम्। अप्येकरूपं वचनं, यत्ते धर्मावबोधकृत् ॥ ३॥

है देशनाकी भूमि योजन-मात्रकी तो भी विभो ! उसमें समाते कोटि-कोटी नर अमर-पशुगण अहो ! ।। २ ।।

निज-मातृभाषामें समज लेते सभी वे आपका सद्धर्मबोधक अर्धमागध वचन. नाशक पापका || 3 ||

साग्रेऽपि योजनशते, पूर्वोत्पन्ना गदाम्बुदाः । यदञ्जसा विलीयन्ते, त्वद्विहारानिलोर्मिभिः ॥ ४ ॥

हे परम-करुणाकर ! विचरते आप जिस धरती उपर निस्तार कर संसार से उपकार करते भविक पर। योजन सवासौ में वहां चहुं ओर बसते लोगके सब रोग मिट जाते स्वयं सामर्थ्यसे तुज योगके । ॥ ४ ॥

नाविर्भवन्ति यद् भूमौ, मूषकाः शलभाः शुकाः । क्षणेन क्षितिपक्षिप्ता, अनीतय इवेतयः ।। ५ ॥

उंदर, पतंग व तीडके उस क्षेत्रमें प्रगटे नहीं कोई उपद्रव, विभु ! प्रजापालक जगतमें तू सही । न्यायी सदाचारी नृपतिके ⁹राज्यमें न टिके यथा अन्याय, तेरे राज्यमें न टिके उपद्रव भी तथा ॥ ५॥

स्त्री-क्षेत्र-पद्रादिभवो, यद् वैराग्निः प्रशाम्यति । त्वत्कृपापुष्करावर्त्त - वर्षादिव भुवस्तले ॥ ६ ॥

वर्षा बरसती थी अनवरत तुज कृपारसकी जभी पृथ्वी उपर, हे पुण्यमय ! तब तृप्त बनते थे सभी । वैराग्नि जो जगता प्रखर स्त्री-क्षेत्र-सीमा-हेतुसे वह शान्त होता था स्वयं विभु ! आप है जल-केतु-से ।। ६ ।।

त्वत्प्रभावे भुवि भ्राम्यत्यशिवोच्छेदडिण्डिमे । सम्भवन्ति न यन्नाथ ! मारयो भुवनारयः ।। ७ ।।

अद्भुत प्रभाव प्रभो ! तुम्हारा जब जगतमें फैलता घनघोर डिण्डिमनाद-सम सब विषमताको टालता । तब जानलेवा मारि का आतंक उठता ना कहीं भगवंत ! अतिशयवंत ! जगका नाथ सच्चा तू सही ।। ७ ।।

कामवर्षिणि लोकानां, त्वयि विश्वैकवत्सले । अतिवृष्टिरवृष्टिर्वा, भवेद् यन्नोपतापकृत् ॥ ८ ॥

है भक्तवत्सल बहुत, किन्तु विश्ववत्सल मात्र तू सबके मनोरथ पूरता प्रभु ! दिव्य अक्षयपात्र तू । जब तू विचरता था तभी अतिवृष्टि या निर्वृष्टि भी परिताप देते जगतको, - क्या बात मुमकिन यह कभी ? ।। ८ ।।

८

|| 99 ||

साम्राज्य महिमावंत यह तूज योगका जिनराज हे ! विख्यात सारे जगतमें है जगत के शिरताज हे ! । कर खतम कर्मोंको उपार्जन यह किया साम्राज्य जो भगवंत हे ! तुमने, किसे आश्चर्यमुग्ध करे न वो ?२॥ १२॥

कर्मक्षयोत्थो भगवन् ! कस्य नाश्चर्यकारणम् ? ॥ १२ ॥

स एष योगसाम्राज्य - महिमा विश्वविश्रुतः ।

तुज शीर्षके पीछे विराजा पूंज ऊर्जाका विभो ! उद्दीप्त सोहे सूर्य-मण्डलसे अधिक वह क्या अहो ! । जाज्वल्यमान स्वरूप तेरा नहि अगोचर हो अतः तेरा अलौकिक तेज पिण्डित बन गया मानो स्वतः । ।। ११ ।।

यन्मूर्ध्नः पश्चिमे भागे, जितमार्त्तण्डमण्डलम् । मा भूद् वपुर्दुरालोक - मितीवोत्पिण्डितं महः

सबसे अधिक महिमानिलय तू भूवलय पर विहरता था सर्वलोकोत्तम व जङ्गम कल्पवृक्ष-सद्दश, तदा । सूखा न अपना क्रूर पंजा अवनि पर फैला सके होती सुवृष्टि रहे, मधुर अरु धान्य भी बहु नीपजे ॥ १० ॥

यत् क्षीयते च दुर्भिक्षं, क्षितौ विहरति त्वयि । सर्वाद्भूतप्रभावाढये, जङ्गमे कल्पपादपे ॥ १०॥

राष्ट्रीय संकट, शत्रु राष्ट्रों-से उपद्रव और जो. सब आपके सुप्रतापसे संताप ये मिटते प्रभो ! ! दुर्धर्ष इक वनराजकी सुन गर्जना भीषण कभी स्वच्छन्द वनमें विचरते गजराज ज्यूं नठते सभी ॥ ९ ॥

स्वराष्ट्र-परराष्ट्रेभ्यो, यत् क्षुद्रोपद्रवा द्रुतम् । विद्रवन्ति त्वत्प्रभावात्, सिंहनादादिव द्विपाः || 8 ||

Jain Education International

www.jainelibrary.org

न्यायी सदाचारी नृपतिके राज्यमें ना टिक सके

जैसे अनीति, ईतियां वैसे प्रभो ! तुज राज्यमें ।। पाठां. ॥

२. आश्चर्यमुग्ध किसे न करता आपका भगवंत ! वो ? ।। पाठां. ।।

इति कर्मक्षयजातिशयस्तवः ॥

योगात्मता यह आपकी अनुपम, नमन मम लाख हे ! ।। १५ ।।

बनकर परम निरपेक्ष जिनवर ! मोक्ष ऊपर भी अहो ! आश्चर्य तब शिवसुन्दरी वरती तुम्हें स्वयमेव तो है यह क्रिया-व्यतिहार अपने आप में बेजोड तो ॥ १४ ॥ मैत्री पवित्रपात्राय, मुदितामोदशालिने ।

|| 94 ||

तथोपाये प्रवृत्तस्त्वं, क्रियासमभिहारतः । यथाऽनिच्छन्नूपेयस्य, परां श्रियमशिश्रियः 11 98 11

रचते उपक्रम कर्मको तुम खतम करनेका विभो !

कृपोपेक्षाप्रतीक्ष्याय, तुम्यं योगात्मने नमः

तू विश्वमैत्री-भावका पावन-परम प्रभु ! पात्र हे ! आनन्ददायक तू परम-आनन्द-सिंचिंत-गात्र हे ! कारुण्य अरु माध्यख्थका तू धाम भी इकमात्र हे !

संसारमें भमते अनादी कालसे संचित किये कर्मो अनंत भदंत ! उनका अंत करनेके लिये । तुम बिन नहीं जिनराज ! जगमें अन्य कोई भी सही संक्षम अहो ! प्रभुता तुम्हारी बस अनूठी है यही ॥ १३ ॥

अनन्तकालप्रचित - मनन्तमपि सर्वथा। त्वत्तो नाऽन्यः कर्मकक्ष - मुन्मूलयति मूलतः ॥ १३॥



99

दानशीलतपोभावभेदाद्धर्मं चतुर्विधम् । मन्ये युगपदाख्यातुं, चतुर्वक्त्रोऽभवद् भवान् ॥ ४॥

किरन्ति पड्कजव्याजात्, श्रियं पड्कजवासिनीम् ॥ ३ ॥ रखते चरण जगशरण ! हे जिन ! आप जिस धरती उपर सुर और असुरोंके निकर बौछात रचते हैं उधर । अतिभव्य दिव्य व नव्य कमलोंकी, अहो ! इस व्याजसेश्रीदेवताकीभेंट करतेवेत्रिलोकीनाथसे॥ ३॥

यत्र पादौ पदं धत्तस्तव तत्र सुरासुराः । किरन्ति पड्कजव्याजात्, श्रियं पड्कजवासिनीम् ॥ ३ ॥

'जिनराज ही सिरताज है सम्पूर्ण चौदह राजमें' यह विश्वको कहते हुए मानो स्वयं सुरराजने । की ऊंची इन्द्रध्वज सरज कर तर्जनी निज अड्गुली लाखों पताकाओं जहां सोहे रतन-मण्डित भली ।। २ ।।

'एकोऽयमेव जगति स्वामी' त्याख्यातुमुच्छ्रिता । उञ्चैरिन्द्रध्वजव्याजात्, तर्जनी जम्भविद्विषा ॥ २॥

तिलकं तीर्थकृल्लक्ष्म्याः, पुरश्चक्रं तवैधते ॥ १॥ मिथ्यात्वियोंको प्रलयकालिक सूर्य-सा अतिउग्र जो सम्यक्त्वियोंकी द्रष्टिमें पीयूष आंजे और जो। तीर्थंकरोंकी दिव्य लक्ष्मीका तिलक-तेरा अहो ! दिक्वक्रको करता प्रकाशित धर्मचक्र जयति विभो ॥ १॥

चतुर्थः प्रकाशः ॥

मिथ्यादृशां युगान्तार्कः, सुदृशाममृताञ्जनम् ।

www.jainelibrary.org

प्रभु ! केश, रूंवें, मूछ, दाढी, नख, कभी बढते नहीं यह आपका माहात्म्य परमादान् ! अनूठा है सही | अफसोस इतना ही कि साहिब ! आपका यह बाह्य भी सामर्थ्य-यौगिक अन्य-देवों पा सके नहि रे कभी ! || ७ || शब्दरूपरसस्पर्शगन्धाख्याः पञ्च गोचराः | भजन्ति प्रातिकूल्यं न, त्वदग्रे तार्किका इव || ८ ||

केशरोमनखश्मश्रु, तवावस्थितमित्ययम् । बाह्योऽपि योगमहिमा, नाप्तस्तीर्थकरैः परैः ! ॥ ७ ॥

भवेयुः सम्मुखीनाः किं, तामसास्तिग्मरोचिषः ? ॥ ६ ॥ पदतल तुम्हारे विभु ! धरातल उपर चलते थे जभी कांटे उगे जो बाटमें बनते अधोमुख वे तभी । क्या सूर्यकी तीखी नजरके सामने आता कभी भयभीत सूरज-दीप्तिसे पक्षी निशाचर कोइ भी ? ॥ ६ ॥

व्यंतर-असुर-सुर-देवताओंने, अहो ! जिन ! तू जिये ! ।। ५ ।। अधोमुखाः कण्टकाः स्युर्धात्र्यां विहरतस्तव । भवेगः सम्मर्ग्वीनाः किं तामसास्तिगमरोचिषः २ ॥ ६ ॥

तीनों भुवनके तीन दुःखों. क्षीण हो इसके लिये, हे जगतवत्सल देव ! दृढ जब आपने निश्चय किये । साकार करनेको उन्हें प्राकार तीन विरच दिये व्यंतर-असर-सर-देवताओंने. अहो ! जिन ! त जिये ! ।। ५ ।।

त्वयि दोषत्रयात् त्रातुं,, प्रवृत्ते भुवनत्रयीम् । प्राकारत्रितयं चक्रुस्त्रयोऽपि त्रिदिवौकसः ॥ ५॥

शंका उठी मम हृदयमें इक 'देशना देते समय बनते चतुर्मुख आप क्यों हे नाथ ! परमानन्दमय !' सहसा उगा उत्तर कि 'युगपत् प्रभु ! प्रकाशे आपने' दानादि-चारों-धर्म, मानों इसलिए चउमुख बने !' ।। ४ ।।

For Private & Personal Use Only

स्वर्गीय परिमलसे खचित फूलोंकी मंगल सृष्टिसे ॥ १० ॥ जगत्प्रतीक्ष्य ! त्वां यान्ति, पक्षिणोऽपि प्रदक्षिणम् । का गतिर्महतां तेषां, त्वयि ये वामवृत्तय : ? ॥ ११ ॥ हे पूज्य त्रिभुवनके ! तुम्हें पक्षीसमूह प्रदक्षिणा अनुकूल बन करता विभो ! यह बात अद्भुतलक्षणा ! । अब सोचता हूं मैं कि उनका हाल क्या होगा अरे ! निजको बडे गिनते हुए प्रतिकूल तुमसे जो रहे ॥ ११ ॥

भावित्वत्पादसंस्पर्शां, पूजयन्ति भुवं सुराः ॥ १०॥ यह भूमि तो पावन बनेगी जगतगुरुके स्पर्शसे यह सोचकर सुर-असुरवर जिनवर ! प्रवर-अतिहर्षसे । उस भूमिका पूजन करे सुरभित-विमल-जल-वृष्टिसे स्वर्गीय परिमलसे खचित फलोंकी मंगल सष्टिसे ॥ १०॥

निर्लज्ज बन हमने हमेशां मदनकी की सेवना यह तो बना जिन मारविजयी, अब हमारा आ बना ! । इस भीतिसे अपनी बदलकर नीति मानों षडऋतु, हे देव ! सेवे तव चरणको, गजब महिमावंत तू ॥ ९॥ सुगन्ध्युदकवर्षेण, दिव्यपुष्पोत्करेण च ।

त्वत्पादावृतवः सर्वे, युगपत् पर्युपासते । आकालकृतकन्दर्प - साहायकभयादिव ॥ ९॥

जो पंच-इंद्रिय के विषय शब्दादि-पांचों वह द्विधा -अनुकूल भी प्रतिकूल भी, सामान्य-जनकी यह विधा । वे सर्व विषयों आपके अनुकूल ही रहते सदा, प्रतिकूल ना बनते सुतार्किकजन यथा तुमको कदा ।। ८ ।।

98

१. नहि। पाठां. ॥



इति सुरकृतातिशयस्तवः ॥

हे भुवनवल्लभ ! देवदुर्लभ ! सुलभ सच्चे दासको ! तेरे अजब माहात्म्यकी कितनी कहूं अब बात तो ! । साहिब ! अहर्निश सेवते तुझको करोडों देवता निज-भाग्यसे पाये विषयको मूर्खभी क्या⁹ छोडता ? ।। १४ ।।

जघन्यतः कोटिसङ्ख्यास्त्वां सेवन्ते सुरासुराः । भाग्यसम्भारलभ्येऽर्थे, न मन्दा अप्युदासते ॥ १४ ॥

इतनी हमारी उम्रमें माहात्म्य ऐसा ना कभी हमने निहाला जगनिराला ! प्रभु, अजायबः वृक्ष भी । सिरको झुकाकर तुझ चरणमें जन्म निज सार्थक करे, मिथ्यात्वियोंका जन्म व्यर्थ व निम्न इनसे भी अरे ! ।। १३ ।।

मूर्ध्ना नमन्ति तरवस्त्वन्माहात्म्यचमत्कृताः । तत्कृतार्थं शिरस्तेषां, व्यर्थं मिथ्यादृशां पुनः ॥ १३॥

तू भूमि पर विचरे जहां अनुकूल वायु वहे वहां प्रतिकूलताको छोडकर, यह देखकर शाहेजहां ! । दुःशील वर्तनके लिए हिम्मत नहीं करते कभी प्रभु, आपके प्रति इस जगतके जीव पंचेंद्रिय सभी ।। १२ ।।

पञ्चेन्द्रियाणां दौःशील्यं, क्व भवेद् भवदन्तिके ? । एकेन्द्रियोऽपि यन्मुञ्चत्यनिलः प्रतिकूलताम् ॥ १२॥

गायन्निवालिविरुतै - र्नृत्यन्निव चलैर्दलैः । त्वद्गुणैरिव रक्तोऽसौ, मोदते चैत्यपादपः ॥ १॥ चहुं ओर गुंजे भ्रमरगण, मानों स्वयं वह गा रहा ! कोमल थिरकते पत्र, मानों नृत्य भी वह कर रहा ! । सद्भूत तुज गुणके परम-अनुरागसे मानों बना यह रक्त चैत्यद्रुम तुम्हारा हर्ष-रसमें न्हा रहा ! || 9 || आयोजनं सुमनसोऽधस्तान्निक्षिप्तबन्धनाः । जानुदध्नीः सुमनसो, देशनोर्व्यां किरन्ति ते || 2 || तुज एक योजनमें प्रसरती देशनाकी भूमि पर देवों बिछावे स्निग्ध-सुरभित-दिव्य-पुष्पोंके प्रकर । जानुप्रमाण व ऊर्ध्वमुख फूलोंकी चादर यह अहो ! आदर बढावे आपके प्रति मम हृदयमें नाथ ! तो ॥ २ ॥ मालवकैशिकीमुख्य - ग्रामरागपवित्रितः । तव दिव्यो ध्वनिः पीतो, हर्षोद्ग्रीवैर्मृगैरपि || 3 || जब राग मालवकौंसके अतिमधुर-सूर-सभर विभो ! ध्वनि देशनाका दिव्य तेरे वदनसे प्रगटे प्रभो ! । तब देव-मानव सब बने मशगूल, यह आश्चर्य ना, हर्षोल्लसित मृगवृन्द भी सोत्कण्ठ ध्वनिरस पी रहा ! । । ३ ।। तवेन्द्रधामधवला, चकास्ति चमरावली । हंसालिरिव वक्त्राब्ज - परिचर्यापरायणा ॥ ४॥

94

39

दुन्दुभिर्विश्वविश्वेशपुरो व्योग्नि प्रतिध्वनन् । जगत्याप्तेषु ते प्राज्य - साम्राज्यमिव शंसति ॥ ७॥ हे विश्वनायक पूर्णलायक मोक्षदायक नाथजी ! यह आपके सन्मुख सुखद जो दिव्य-दुन्दुभि है बजी । "आप्तों बहुत, पर श्रेष्ठ उनमें है यही जिनराज ही" यह खबर सारे खलकको मानों सतत वह दे रही ! ॥ ८ ॥

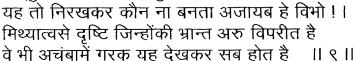
ज्यूं धवल-ज्योत्स्ना-कलित पूनमका मधुरतम चन्द्रमा अपने परम प्रेमी चकोरोंको दिए भारी मुदा । इसविध तुम्हारा दिव्य लोकोत्तर प्रभामंडल प्रभो ! भाविकजनोंके नयनको आनन्ददायक है अहो ! ।। ६ ।।

भासां चयैः परिवृतो, ज्योत्स्नाभिरिव चन्द्रमाः । चकोराणामिव दृशां, ददासि परमां मुदम् ॥ ६ ॥

मणिरत्नस्वर्ण-रचित खचित-तेजोवलयसे तू जभी सिंहासनों पर बैठकर विभु ! देशना देता तभी । आवे श्रवणको हरिणगण उत्कर्ण बन, मानों लगे जो सिंह सिंहासन उपर, उनकी सुसेवाके लिए ।। ५ ।।

मृगेन्द्रासनमारूढे, त्वयि तन्वति देशनाम् । श्रोतुं मृगाः समायान्ति, मृगेन्द्रमिव सेवितुम् ॥ ५॥

यह पूर्णचन्द्रसदृश-धवल विलसे चमरकी श्रेणियां जिनचन्द्र ! हे निस्तन्द्र ! दोनों ओर ऐसी आप की । मानों तुम्हारे मुख-कमलकी सेवनामें लीन यह है पंक्ति हंसोकी धवलतम सेविका विभु ! आपकी ।। ४ ।।



अद्भुत चमत्कारों-भरी तुझ प्रातिहार्यश्री अहो !

एतां चमत्कारकरीं, प्रातिहार्यश्रियं तव । चित्रीयन्ते न के दृष्ट्वा, नाथ ! मिथ्यादृशोऽपि हि ? ।। ९ ।।

ज्यों ज्यों जिनेश्वर ! आपकी आत्मा उपर उठती गई त्यों पुण्यऋद्धि भी अनुक्रमसे सहज बढती गई । इसबिध बना त्रिभुवनतिलक तू, सूचना इस बातकी जिननाथ ! तेरे शिर उपरकी दे रही छत्रत्रयी ।। ८ ।।

तवोर्ध्वमूर्ध्वं पुण्यर्धि - क्रमसब्रह्मचारिणी । छत्रत्रयी त्रिभुवन - प्रभुत्वप्रौढिशंसिनी ॥ ८॥

श्री हेमचंद्राचार्य

इति प्रातिहार्यस्तवः ॥

राजा कुमारपाळ

षष्ठः प्रकाश : ।।

लावण्यपुण्यवपुषि, त्वयि नेत्रामृताञ्जने । माध्यस्थ्यमपि दौःस्थ्याय, किं पुनर्द्वेषविप्लवः ? ॥ १ ॥ भविजन-नयनको अमृत-अंजन-सदृश मनमोहन तथा लावण्यमंडित रूप-अनुपम आपका जो देखता। निर्लेप वह रहता अगर तो भी बने बेहाल ही यदि द्वेष करने लग गया तबकी कहूं क्या बात ही ? ।। १ ।। तवापि प्रतिपक्षोऽस्ति, सोऽपि कोपादिविप्लुतः । अनया किंवदन्त्यापि. किं जीवन्ति विवेकिनः ? || 2 || विभु आपके भी शत्रु है, फिर वे भी क्रोध-क्षुब्ध है यह किंवदन्तीके श्रवणसे सूज्ञ जन सब स्तब्ध है। तू शत्रुको भी मित्र माने, तदपि तव रिपु होत है, यह बात ही सुविवेकियों का नाथ ! जिन्दा मौत है ।। २ ।। विपक्षस्ते विरक्तश्चेत. स त्वमेवाऽथ रागवान । न विपक्षो विपक्षः किं, खद्योतो द्युतिमालिनः ? ॥ ३॥ यदि आपका प्रतिपक्ष नीरागी हुवै तब तो स्वयं वह आप ही हो, दूसरा नहि, है मुझे निश्चय अयं। रागान्ध वह होगा अगर, तब आपका न विपक्ष वो; जुगनू बने कैसे कभी प्रतिपक्ष सूरजका कहो ! । ३ ।। स्पृहयन्ति त्वद्योगाय, यत्तेऽपि लवसत्तमाः ।

योगमुद्रादरिद्राणां, परेषां तत्कथैव का ? ॥ ४॥

٩८

जब तक तुम्हारी दृष्टिसे साबूत है हम चेतना ।। ७ ।। कृतार्था जठरोपस्थ - दुःस्थितैरपि दैवतैः । भवादृशान् निहनूवते, हा हा ! देवास्तिकाः परे ।। ८ ।।

कूटस्थ नित्य व मुक्त फिर भी है विपक्षी देवता । वन्ध्या-तनय-सम उन सभी की कौन करता सेवना ?

नित्यमुक्तान् जगज्जन्म - क्षेमक्षयकृतोद्यमान् । वन्ध्यास्तनन्धयप्रायान्, को देवांश्चेतनः श्रयेत् ? ॥ ७॥ निशदिन करत उद्यम जगतके सुजन-पालन-नाशका

स्वयं मलीमसाचारैः, प्रतारणपरैः परैः । वञ्च्यते जगदप्येतत्, कस्य पूत्कुर्महे पुरः ॥ ६॥ परवंचनामें चतुर अरु विपरीत-आचरणों भरे परतीर्थिकों द्वारा अबुध जगजन ठगाते हैं अरे ! । करुणासुधारससिन्धु ! बन्धु भान-भूलोंके खरे ! भजिनराज! तुम बिन हम कहां पोकार अब तो जा करें ?॥ ६॥

त्वत्तो हि न परस्त्राता, किं ब्रूमः ? किमु कुर्महे ? ॥ ५ ॥ मालिक ! तुम्हारे बिन हमारा कोइ भी रक्षक नहीं अत एव स्वामीभावसे स्वीकारते तुझको सही । स्तुति भी करें तेरी तथा तेरी ही तो समुपासना नहि और कुछ करने व कहनेकी हृदयमें वासना ॥ ५ ॥

अब योगमुद्रासे अजाने आपके प्रतिपक्षकी हे योगियोंमें प्रवर जिनवर ! हम करें क्यों बात भी ? ।। ४ ।। **त्वां प्रपद्यामहे नाथं, त्वां स्तुमस्त्वामुपास्महे ।**

अहमिन्द्र-देवों-भी तलसते है अहर्निश नाथ ! कि -

चरणों-की-सेवा- कब हमें मिल जाय त्रिभूवननाथकी।

सज्जनजनों के मो लिए उच्छदनी नोह शक्य हो। 90 ॥ प्रसन्नमास्यं मध्यस्थे, दृशौ लोकम्पूणं वचः । इति प्रीतिपदे बाढं, मूढास्त्वय्यप्युदासते ॥ ११ ॥ प्रभुजी ! प्रसन्न वदन तुम्हारा नजर अरु शमरसभरी बुध-अबुध जनताको तथा प्रियकारिणी वाणी खरी । यह प्रीतिके सब हेतुओं उपलब्ध तुझमें पूर्णतः तो भी रखे अलगाव तुझसे मूढ जो जन है स्वतः ॥ ११ ॥

दृष्टिरागस्तु पापायान्, दुरुच्छदः सतामाप ॥ १०॥ पुरुषार्थ कोइ पुरुष करे सन्निष्ठतासे अल्प भी तो स्नेहजनित व कामप्रेरित राग का क्षय शक्य है। 'मैं ही हुं सच्चा, अन्य जूठे' यह कुदृष्टिराग को सज्जनजनों के भी लिए उच्छेदना नहि शक्य है॥ १०॥

कामराग-स्नेहरागा - वीषत्करनिवारणौ । दृष्टिरागस्तु पापीयान्, दुरुच्छेदः सतामपि 🛛 ।। १० ॥

आकाशकुसुमसमान एक पदार्थकी कर कल्पना आकार अरु आयामकी उसके तथा कर कल्पना । स्वामिन् ! स्वगृहमें वे न माये ना समाये देहमें 'हम सर्वव्यापी' इस तरह गाजे सतत निजगेहमें३ ।। ९ ।।

खपुष्पप्रायमुत्प्रेक्ष्य, किञ्चिन्मानं प्रकल्प्य च । सम्मान्ति गेहे देहे वा, न गेहेनर्दिनः परे ॥ ९ ॥

निज-उदर तृप्ति में तथा निज-वासना की पूर्ति में जो व्यग्र है उन इष्टदेवोंको सतत जो पूजके | आस्तिक गिने खुदको कई जन जगतमें जिन ! आप-से निर्ग्रन्थ को भी अवगणे; डरते न वे क्या पापसे ?२ || ८ ||

तिष्ठेद वायुर्द्रवेदद्रि - र्ज्वलेज्जलमपि क्वचित । तथापि ग्रस्तो रागाद्यै - र्नाप्तो भवितुमर्हति ॥ १२॥

इकबार वायु स्थिर बने. ठंडक दिए यदि आग भी. जल सुलगने लग जाय इससे उजड जाये बाग भी। यह शक्य है शायद; परन्तु देव-दोषग्रस्त तो लायक हमारा 'आप्त' बननेको नहीं, इति शं विभो ! ।। १२ ।।

इति प्रतिपक्षनिरासस्तवः ॥







राजा कुमारपाळ

१. जिनराज ! किसके पास हम पोकार जा कर तो करें ? ।। पाठां. ।।

२. अवगणे; हाये न डरते पापसे ! ॥ पाठां. ॥

३. परपक्ष तेरा अनवरत गरजा करे निजगेहमें - ।। पाठां. ।।

दुःखदौर्गत्यदुर्योनि - जन्मादिक्लेशविह्वलम् । जनं तु सृजतस्तस्य, कृपालोः का कृपालूता ? || 8 ||

कृपयाऽथ सृजेत् तर्हि, सुख्येव सकलं सृजेत् ॥ ३॥ मानों कदाचित ईश क्रीडावश जगत-सर्जन करे तब राग-बन्धन-में फंसा वह, खेल वरना क्यों करे ?। अब यह कहो : वह परम-करुणासे बनाता सृष्टिको यहभी कहोः तब क्यों बनाता नहि⁹ सुखी ही सुष्टिको ?।। ३।।

क्रीडया चेत् प्रवर्तेत, रागवान् स्यात् कुमारवत् ।

जब देह ईश्वरको नहीं तब सुष्टि-सर्जन वह करे. यह बुद्धिसंगत भी नहीं अरु उचित भी कैसे लगे ?। नहि है प्रयोजन सृजनका, फिर, नित्यमुक्त ब्रह्मको; स्वाधीन-उस-पर सृजनका परका चले नहि हुक्म तो ।। २।।

अदेहस्य जगत्सर्गे, प्रवृत्तिरपि नोचिता । न च प्रयोजनं किञ्चित, स्वातन्त्र्यान्न पराज्ञया || 2 ||

"ना वेदबानी पुरुषकृत", पर-तीर्थिकोंका ख्याल यह कितना असंगत है सरासर नाथ ! दीनदयाल वह ! । बानी बिना-मुख-के न निकले, वदन भी न बदन बिना वह भी कभी बनता नहीं अपने-किए-कर्मों बिना ॥ १ ॥

सप्तमः प्रकाश : ॥ धर्माधर्मौ विना नाऽज़, विनाऽङ्गेन मुखं कुतः ?।

मुखाद् विना न वक्तृत्वं, तच्छास्तारः परे कथम् ? ॥ १ ॥

संज्ञप्त-दुःखोंसे तथा दुर्भाग्यसे-पीडित२ सदा अपयोनियोंमें जनमनेके क्लेश से विहवल तथा । सब प्राणिगण सरजे तुम्हारे विश्व-सर्जकने अहो ! फिरभी कहा जाए कृपालु किस तरहसे वह ? कहो ! ।। ४ ।।

कर्मापेक्षः स चेत्तर्हि, न स्वतन्त्रोऽस्मदादिवत् । कर्मजन्ये च वैचित्र्ये, किमनेन शिखण्डिना ? ॥ ५॥

यदि प्राणियोंके पूर्व-कर्मोंकी गरज सर्जक रखें परतंत्र तब वह बन गया-जैसे पृथग्जन-सृजनमें। फिर जगतका वैचित्र्य कर्माधीन ही होता यदा क्या है प्रयोजन इस शिखण्डीतुल्य ईश्वरका तदा ?।। ५।।

अथ स्वभावतो वृत्ति - रवितर्क्या महेशितुः । परीक्षकाणां तर्ह्येष, परीक्षाक्षेपडिण्डिमः ।। ६ ।।

अब यों कहो : जगदीशकी यह रीत ही है; मत करो-कोई तरहका तर्क इसमें, सिर्फ स्वीकारा करो ! यह तो हुआ ऐसा कि आप परीक्षकोंको कह रहे : 'आओ, परीक्षा लो ! अपि तु कुछ पूछना नहि मित्र हे ! ।। ६ ।।

सर्वभावेषु कर्तृत्वं, ज्ञातृत्वं यदि सम्मतम् । मतं नः सन्ति सर्वज्ञाः, मुक्ताः कायभृतोऽपि च । ॥ ७ ॥

"जगदीश सर्जक जगतका-इस कथनका तात्पर्य यह : ज्ञानात्मना पूरे जगतमें छा रहा वह हर जगह ।" यह तो हमें भी मान्य है ऐसे द्विधा सर्वज्ञ है एक देहधारी, दूसरे अरु सिद्ध रूपातीत है ।। ७।।

सृष्टिवादकुहेवाक - मुन्मुच्येत्यप्रमाणकम् । त्वच्छासने रमन्ते ते, येषां नाथ ! प्रसीदसि ॥ ८ ॥

यों सृष्टिवादी मान्यताका असद-आग्रह त्याग कर तुझ दृष्टिवादी वचनके विभु ! वे बनेंगे पक्षधर । अज्ञानजन्य-कुवासनाओंके भयंकर-तिमिरहर ! तेरा अनुग्रह बरसता है नाथजी ! जिनके उपर 11 ८ 11

इति जगत्कर्तृत्वनिरासस्तवः ।।





राजा कुमारपाळ

१. नहि सुखी वह सृष्टिको ? ॥ पाठां. ॥

२. <u>दंडित</u> - पाठां. ।।

28

अष्टमः प्रकाश : ॥

सत्त्वस्यैकान्तनित्यत्वे, कृतनाशाऽकृतागमौ । स्यातामेकान्तनाशेऽपि, कृतनाशाऽकृतागमौ || 9 || जब द्रव्य केवल नित्य होता, दोष दो आते तभी कृतनाश होता प्रथम अकृतांगम अपर दूषण सही। अब द्रव्यको मानें क्षणिक द्विक दोषका तब भी वही कृतनाश होगा प्रथम अकृतागम अपर दूषण सही ॥ १ ॥ पुण्यपापे बन्धमोक्षौ, न नित्यैकान्तदर्शने। पुण्यपापे बन्धमोक्षौ, नाऽनित्यैकान्तदर्शने || 2 || एकान्ततः सब नित्य है - इस पक्षको मानो यदि अथवा समग्र अनित्य ही है - पक्ष यह मानो यदि। ना पुण्य-पाप व बन्ध-मोक्ष नहीं घटेगा तब कभी, एकान्त-नित्य-अनित्यवादी इन-मतद्वयमें अजी ! ।। २ ।। आत्मन्येकान्तनित्ये स्यान्न भोगः सुखदुःखयोः । एकान्तानित्यरूपेऽपि, न भोगः सुखदुःखयोः || 3 || यदि आतमाको मान लें कूटस्थ नित्य विभो ! तभी उपभोग वह नहि पा सकेगा दुःख अरु सुखका कभी। 'एकान्त से आत्मा क्षणिक' यह भी कदाचित् मान लें पर भोग सुख अरु दुःखका तब भी न आत्माको मिले ॥ ३ ॥

क्रमाक्रमाभ्यां नित्यानां, युज्यतेऽर्थक्रिया नहि । एकान्तक्षणिकत्वेऽपि, युज्यतेऽर्थक्रिया नहि ॥ ४॥

રપ

'सब नित्य है' इस पक्षमें क्रमसे अगर युगपत् कभी घट ना सके अर्थक्रिया, मिथ्या बने दुनिया तभी; 'सब क्षणिक' माना जाय तब भी क्रमिक वा युगपत् कभी घट ना सके अर्थक्रिया, तब जगत झूठा हवै सभी ।। ४ ।।

यदा तु नित्यानित्यत्व - रूपता वस्तुनो भवेत्। यथात्थ भगवन्नैव, तदा दोषोऽस्ति कश्चन ॥ ५॥

'सब है कथंचित् नित्य और अनित्य' शाश्वत सत्य यह, जैसा बताया आपने जब समझ लें तीर्थिक सभी; स्याद्वाद-उद्घोषक ! व शोषक - दोषकर्दमके विभो ! उपरोक्त में से एक भी नहि दोष टिक सकता तभी ।। ५ ।।

गुडो हि कफहेतुः स्यान्नागरं पित्तकारणम् । द्वयात्मनि न दोषोऽस्ति, गुडनागरभेषजे ॥ ६ ॥

गुडसे-अकेले कफ बढे अरु पित्त केवल सूंठ से औषध बने कफ-पित्त-शामक योगसे गुड-सूंठके। बस ठीक ऐसी तरह केवल नित्य या क्षण-पक्षमें है दोष; किन्तु न दोष है भगवन् ! कथंचित् पक्षमें ॥ ६ ॥

द्वयं विरुद्वं नैकत्राऽसत् प्रमाणप्रसिद्धितः । विरुद्धवर्णयोगो हि, दृष्टो मेचकवस्तुषु ॥ ७॥

'दो-दो-विरोधी-धर्म कैसे रह सके इक चीजमें ?' ऐसी कुशंका मत करो !, यह तो प्रमाण-प्रसिद्ध है। देखो कि बहुविध-रंगवाले-एक एव-पदार्थ में, कितने-विरोधी-वर्ण है!, क्या बोध यह अयथार्थ है ?।। ७।।

20

विमतिः सम्मतिर्वापि, चार्वाकस्य न मृग्यते । परलोकात्ममोक्षेषु, यस्य मुह्यति शेमुषी ॥ १९॥ "परलोक नहि, आत्मा नहीं, फिर मोक्ष भी नहि" इस तरह कुठित तथा व्यामूढ जिनकी मति बनत है हर जगह । चार्वाक-दर्शनके-धनी-उनके विमत-मतकी फिकर, करना नहीं हम चाहते उन नास्तिकोंकी भी जिकर ॥ १९॥

है एक प्रकृति परन्तु उसमें सत्त्व-रज-तम तीन है गुण तो विरोधी सांख्यमतमें, अगर यह मुमकीन है । बस है यही स्याद्वाद हे वादीन्द्र ! सांख्य-शिरोमणे ! फिर व्यर्थ खण्डन यदि करो इसका, न वह संगत बने।। १०।।

इच्छन् प्रधानं सत्त्वाद्यै - र्विरुद्धैर्गुम्फितं गुणैः । साङ्खयः सङ्ख्यावतां मुख्यो, नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत् ।। १० ।।

इक द्रव्यमें बहुविध-विरोधी-वर्ण होते यद्यपि, वे चित्र द्रव्य कहे उसे, पर द्रव्यभेद गिने नहि; । नैयायिकों-वैशेषिकों का पक्ष यह स्याद्वाद है फिर क्यों करें स्याद्वादका नाहक अरे ! प्रतिवाद वे ? ।। ९ ।।

चित्रमेकमनेकं च, रूपं प्रामाणिकं वदन्। यौगो वैशेषिको वापि, नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत् ॥ ९॥

विज्ञानवादी बुद्धके अनुसार "है विज्ञान ही – साकार; अब आकार धरता सर्व द्रव्योंका वही" । इक भाव बहु-आकार रच जाए–यही स्याद्वाद है, फिरभी तथागत किस तरह उसका करे प्रतिवाद रे ? ।। ८ ।।

विज्ञानस्यैकमाकारं नानाकारकरम्बितम् । इच्छंस्तथागतः प्राज्ञो, नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत् ॥ ८॥

तेनोत्पादव्ययस्थेम- संभिन्नं गोरसादिवत् । त्वदुपज्ञं कृतधियः, प्रपन्ना वस्तु वस्तुसत् ॥ १२॥

दृष्टांत से गोरस-वगैरह के बताया आपने "उत्पाद-नाश-ध्रौव्य-मंडित वस्तु ही सद्रूप है ।" °इस सत्यको समजे जगतमें जो वही तत्त्वज्ञ है हे नाथ ! जो है भ्रान्त वे तो बस पडे भव-कूपमें ।।

इति एकान्तनिरासस्तवः ॥







राजा कुमारपाळ

इस सत्यको समझे वही तत्त्वज्ञ जो जन जगतमें ।। पाठां. ।।

नवमः प्रकाश : ॥

यत्राऽल्पेनाऽपि कालेन, त्वद्भक्तेः फलमाप्यते। कलिकालः स एकोऽस्तु, कृतं कृतयुगादिभिः || 9 || थोडे समयमें ही मिले भगवंत ! तेरी भक्ति का परिणाम मनचाहा जहां, कलिकाल वह मुझको जचे। कृतयुग वगैरह अन्य तीनों कालकी आसक्ति या आग्रह रहा नहि अब, मुझे तो रटन बस तेरा रुचे ॥ १ ॥ सुषमातो दुःषमायां, कृपा फलवती तव । मेरुतो मरुभूमौ हि, श्लाध्या कल्पतरोः स्थिति : ॥ २ ॥ हे देव ! सुखमय समयसे यह काल दू:षम ठीक है देगी अधिक फल क्योंकि करुणा आपकी इस कालमें। श्री मेरुपर्वत पर बसे विभू ! कल्पतरु यह ठीक है, होगी प्रशंसा किन्तु उसकी यदि बसे वह भालमें ॥ २ ॥ श्राद्धः श्रोता सुधीर्वक्ता, युज्येयातां यदीश ! तत् । त्वच्छासनस्य साम्राज्य- मेकच्छत्रं कलावपि || 3 || श्रद्धासभर श्रोता व वक्ता बुद्धिनिष्ठासे सभर हो जाय विभू ! इन-दो-जनोंका मिलन भक्तिसभर अगर । तब तो जिनेश्वर ! जैन शासनका अचल साम्राज्य भी जयवंत बरतेगा विषम होता भले कलिकाल भी || 3 ||

युगान्तरेऽपि चेन्नाथ !, भवन्त्युच्छूङ्खलाः खलाः । वृथैव तर्हि कुप्यामः, कलये वामकेलये ।। ४ ।।

Jain Education International

होते अगर विभु ! सत्ययुगमें भी निरंकुश दुष्टजन तब क्यों निकाले दोष है कलिकालका सब शिष्टजन ? । कलिकालमें खल बहुत हैं तो सत्ययुगमें क्या नहीं ? जोभक्तिफल फिर सत्ययुगमें मिलत कलियुगमें वही।। ४।।

कल्याणसिद्धयै साधीयान्, कलिरेष कषोपलः । विनाग्निं गन्धमहिमा, काकतुण्डस्य नैधते ॥ ५॥

कलि है कसौटी सिद्धिमें कल्याणरसकी जीव हे ! यदि भक्ति सच्ची है तभी तो सिद्ध होगा वह अरे ! जैसे कि तीखी आगमें जब तक न डाला जात है कृष्णागुरूकी सुरभि तब तक भाइ ! बढ नहि आत है ।। ५ ।। निशि दीपोऽम्बुधौ द्वीपं, मरौ शाखी हिमे शिखी । कलौ दुरापः प्राप्तोऽयं, त्वत्पादाब्जरजःकणः ॥ ६ ॥

ज्यों रात्रिमें हो दीप अरु ज्यों द्वीप सागरमें मिले मरु देशमें ज्यों कल्पतरु अरु अग्नि हिमगिरि पर मिले। बस ठीक वैसे ही मुझे कलिकालमें महाराज हे। तुज चरण पंकज-रज मिली दुर्लभ, कृतारथ आज मैं।। ६।।

युगान्तरेषु भ्रान्तोऽस्मि, त्वद्दर्शनविनाकृतः नमोऽस्तु कलये यत्र, त्वद्दर्शनमजायत ॥ ७॥

होते रहे सब अन्य युगमें नाथ ! जो मेरे जनम तेरे दरश बिन वे सभी थे सिर्फ भववनमें भ्रमण । सब कोसते जिसको उसी कलिकालको मैं करुं नमन दर्शन मुझे तेरे मिले कलिकालमें ही भवशमन ।। ७ ।।

30

बहुदोषो दोषहीनात्, त्वत्तः कलिरशोभत । विषयुक्तो विषहरात्, फणीन्द्र इव रत्नतः ॥ ८॥ बहु-दोषसे परिपूर्ण यदि कलिकाल है तो भी विभो ! निर्दोष अरु गुणपूर्ण-तेरे-योगसे वह सोहता । जैसे कि जहरीला स्वयं है नाग फणिधर पर अहो ! विषहर-निजी-मस्तकमणी-के-योगसे है सोहता ॥ ८ ॥

इति कलिस्तवः ॥





राजा कुमारपाळ

दशमः प्रकाश : ॥

मत्प्रसत्तेस्त्वत्प्रसाद – स्त्वत्प्रसादादियं पुनः । इत्यन्योन्याश्रयं भिन्ध्दि, प्रसीद भगवन् ! मयि ॥ १॥

मैं खुश जभी तेरी खुशीका तब प्रसाद मुझे मिले खुश तू मगर होवे जिनेश्वर ! तब मुझे खुशियां मिले । अन्योन्य–आश्रयकी इस स्थितिका निवारण अब करो ! हे नाथ ! मुझ पर दिव्य–वृष्टि–प्रसन्नताकी अब करो ! ।। १ ।।

निरीक्षितुं रूपलक्ष्मीं, सहस्राक्षोऽपि न क्षमः । स्वामिन्। सहस्रजिह्वोऽपि, शक्तो वक्तुं न ते गुणान्।। २।।

प्रभु रूप अनुपम आपका इतना अनिर्वचनीय है कि सहस्रनेत्र सुरेन्द्र भी नहि ताग उसका पा सके। संचित हुए सब आपमें संसारके सद्गुण कि जो -पाएं हजारों जीभ वह भी गुण नहीं तुझ गा सके॥ २॥

संशयान्नाथ । हरसे - ऽनुत्तरस्वर्गिणामपि । अतः परोऽपि किं कोऽपि, गुणः स्तुत्योऽस्ति वस्तुतः ? ।। ३ ।।

एकावतारी देव जो सर्वार्थसिद्ध विमानमें, बसते सभी सन्देह उनके छेदता तू ज्ञानसे । भगवंत ! हे भव-अंतकारक अरु निवारक पापका ! इससे अधिक गुण कौनसा स्तवनीय होगा आपका ! ।। ३ ।।

इदं विरुद्धं श्रद्धत्तां, कथमश्रद्धानकः । आनंदसुखसक्तिश्च, विरक्तिश्च समं त्वयि ॥ ४॥

पवित्रं तस्य चारित्रं, को वा वर्णयितुं क्षमः ? ॥ ७॥ जिनके सभी कल्याणकोंके पर्वके सुप्रसंगमें नित-वेदना-संतप्त-नारक-जीव भी आनन्दमें । उनके पवित्र चरित्रका विभु ! कौन वर्णन कर सके ? क्या पंगु जन भी ताग सागरका कभी ले पा सके ? ॥ ७॥

नारका अपि मोदन्ते, यस्य कल्याणपर्वसु । पवित्रं तस्य चारित्रं, को वा वर्णयितुं क्षमः ? ॥ ७॥

सब बाह्य-आन्तर- २ग्रंथियोंसे मुक्त वर-निर्ग्रन्थ तू फिर भी समूचे विश्वका है चक्रवर्ती नाथ ! तू | साम्राज्य अरु३ वैराग्यका विभु द्वन्द्व यह तो आप ही -अपना सके, नहि अन्य कोई देव की ताकात भी || ६ ||

द्वयं विरुद्वं भगवंस्तव नान्यस्य कस्यचित्। निर्ग्रन्थता परा या च, या चौञ्चैश्चक्रवर्तिता ॥ ६॥

सारे जगत पर तू परम उपकार अविरत कर रहा फिर भी परम मध्यस्थता से पेखता जगको रहा ! उपकार भी, माध्यस्थ्य भी, दुर्घट अनूठी तुज विभो ! घटना घटे किसबिध ? - १समस्या यह शमे नहि मुझ अहो ! । । ५।।

नाथेयं घट्यमानाऽपि, दुर्घटा घटतां कथम् ? । उपेक्षा सर्वसत्त्वेषु, परमा चोपकारिता ॥ ५ ॥

इक ओर तू अनुरक्त है चित्सुख व आत्मानन्दमें फिर तू ही देव ! विरक्त है सुख-दुःख के सब द्वन्द्व से । यह दो विरोधी-स्थिति उपर श्रद्धारहित-जनको विभो ! श्रद्धाजमे कैसे ? सकल-अद्भुत-सभर। यह तो कहो ! । । ४।।

शमोऽद्भुतोऽद्भुतं रूपं, सर्वात्मसु कृपाऽद्भुता । सर्वाद्भुतनिधीशाय, तुभ्यं भगवते नमः ॥ ८॥

तव प्रशम अद्भुत, रूप भी अदभुत तुम्हारा देव है ! अद्भुत कृपा तव जीवगण पर बरसती नितमेव है ! भगवान सब-अद्भुत-निधान महान तू ही भुवन में ! हेन-मन! कोटी नमन मम हो ! तुम-चरण-युग-कमलमें ।। ८ ।।

इति अद्भुतस्तवः ॥



- किसबिध ? यही अचरज शमे नहि मुझ अहो पाठां. ॥
- २. बन्धनोंसे पाठां. ॥
- ३. निर्ग्रन्थताका द्वन्द्व. पाठां ॥

38

एकादशः प्रकाशः ॥

निध्नन् परीषहचमू- मुपसर्गान् प्रतिक्षिपन् । प्राप्तोऽसि शमसौहित्यं, महतां कापि वैदुषी ॥ १॥ स्वामिन् ! परीषह-सैन्यको तू खतम तो करता रहा अवमानना आते-सभी-उपसर्गकी करता रहा ! । फिर भी प्रशम-रस-तृप्ति पाई आपने जिनराजजी ! होती बडोंकी निपुणता न्यारी ⁹निरंतर नाथजी ! ॥ १ ॥

अरक्तो भुक्तवान् मुक्ति - मद्विष्टो हतवान् द्विषः । अहो महात्मनां कोऽपि, महिमा लोकदुर्लभः ॥ २॥

रागी न होते भी करे तू मुक्ति-रमणी-रमण हे ! द्वेषी नहीं फिर भी करे तू कर्म-रिपुका २दहन हे ! । कितनी निराली आपकी महिमा जगत से यह अहो ! अब लोकदुर्लभ यह बने इसमें अचंबा क्या ? कहो ! ।। २ ।।

सर्वथा निर्जिगीषेण, भीतभीतेन चागसः । त्वया जगत्त्रयं जिग्ये, महतां कापि चातुरी ॥ ३॥ इच्छा तनिक नहि दिग्विजयकी आपके विभु ! हृदयमें ! फिर आप तो आवेश अरु उन्मादसे डर भी रहे ! तो भी विजय पा ही लिया तीनों भुवन पर आपने चातुर्य यह कैसा बडोंका ! - यह न पाऊँ जानने ॥ ३॥

दत्तं न किञ्चित् कस्मैचि- न्नात्तं किञ्चित् कुतश्चन । प्रभुत्वं ते तथाप्येतत्, कला कापि विपश्चिताम् ॥ ४ ॥

Jain Education International

सर्वे सर्वात्मनाऽन्येषु, दोषास्त्वयि पुनर्गुणाः । स्तुतिस्तवेयं चेन्मिथ्या, तत्प्रमाणं सभासदः ॥ ७॥ "हे नाथ ! तुझमें ही विलसते सब गुणों सम्पूर्णतः अरु इतर देवोंमें सभी अवगुण भरे सम्पूर्णतः ।" स्तुति आपकी यह तो किसीको गलत लगती अगर, तो-मध्यस्थ सभ्योंका वचन इस विषयमें अब मान्य हो !॥ ७॥

रागादि-रिपुओंके प्रति निष्ठुर व निर्दय तू बना जगके सकल जीवों उपर फिर तू दयामय भी बना । यह क्रूरता अरु मधुरताके योग-बलसे आपने साम्राज्य ठाना है समूचे विश्व पर तो नाथ हे ! ।। ६ ।।

रागादिषु नृशंसेन, सर्वात्मसु कृपालना । भीमकान्तगुणेनोञ्चैः साम्राज्यं साधितं त्वया ।। ६ ॥

उदासीनस्य तन्नाथ ! पादपीठे तवाऽलुठत् ॥ ५॥ कर दान अपने देहका भी सुकृत-सर्जनके लिये परतीर्थियोंने नहि कमाया सुकृत-धन जो नाथ हे ! । वह सुकृत तो लोटे स्वयं तव चरण-कमलोंमें सदा हे देव ! परम-निरीहता से क्योंकि तू छलके सदा ॥ ५ ॥

मालिक ! किसीको आपने कुछ भी कभी भी नहि दिया नहि दूसरों से आपने कुछ भी ३कभी भी ले लिया । फिर भी प्रभुत्व समग्र-जगका नाथ ! तेरे हाथमें कैसी अनोखी यह कला है निपुण ! तेरी नाथ हे ! ।। ४ ।।

यदेहस्यापि दानेन, सुकृतं नार्जितं परैः ।

महीयसामपि महान्, महनीयो महात्मनाम् । अहो ! मे स्तुवतः स्वामी, स्तुतेर्गोचरमागमः ! ॥ ८ ॥ जो है महान विभूतियां उनसे भी आप महान है सुचरित-जनोंके भी लिए विभु ! आप पूजास्थान है । मैं बाल चापलमें तुम्हें प्रभुवर ! जरा स्तवने लगा – आश्चर्य अब तो यह हुआ कि स्तुति-विषय तू बन गया ! ॥ ८ ॥

इति महिमस्तवः ॥





राजा कुमारपाळ

- अहो महाराजजी / न्यारी हमेशा नाथजी पाठां. ।।
- २. हनन / शमन पाठां. ।।
- ३. कभी ले ही लिया पाठां. II

यदा मरुन्नरेन्द्रश्री- स्त्वया नाथोपभुज्यते । यत्र तत्र रतिर्नाम, विरक्तत्वं तदापि ते ॥ ४ ॥

विवेकशाणैर्वैराग्य- शस्त्रं शातं त्वया तथा । यथा मोक्षेऽपि तत्साक्षात्, अकुण्ठितपराक्रमम् ॥ ३ ॥ तुझ पास है सुविवेककी अद्भुत सराण जिनेश हे ! वैराग्यकी असिधार पर उपयोग उसका ईश हे ! । करके बना दी धार इतनी तीक्ष्ण उसकी आपने भमोक्षमें अक्षय-अकुंठित-वीर्यवंत कि वह बने ॥ ३ ॥

दुःखहेतुषु वैराग्यं, न तथा नाथ ! निस्तुषम् । मोक्षोपायप्रवीणस्य, यथा ते सुखहेतुषु ॥ २॥ दुःख-हेतुओं से ना तथाविध आपको विभु ! खेद है जिस तरह सुखके हेतुओं पर आपको निर्वेद है । हे मोक्षसाधननिपुण ! गुणधन ! अजब-यह-वैराग्य का क्या भेद पाए वह कभी जो 'मोक्ष मोक्ष' रटे मुधा ? ॥ २॥

यथेह जन्मन्याजन्म, तत्सात्मीभावमागमत् ॥ १॥ अगले जनममें आपने वैराग्यका आदर तथा अभ्यास कर इतना अनूठा पा लिया पाटव अहा ! । इस जन्म में तो जन्मसे ही जुड गया तादात्म्य से वैराग्य का यह भाव साहिब ! आपके शुद्धात्मसे ॥ १ ॥

द्वादशः प्रकाश : ॥

पट्वभ्यासादरैः पूर्वं तथा वैराग्यमाहरः ।

स्वामिन्, जभी देवेन्द्र अरु राजेन्द्र के ऐश्वर्यका अगले भवों में आपने उपभोग पाया था महा ! उस ओर जो निर्लेपता बरती तभी विभु ! आपने उसमें किया परगट निजी वैराग्य मौलिक आपने || ४ ||

नित्यं विरक्तः कामेभ्यो, यदा योगं प्रपद्यसे । अलमेभिरिति प्राज्यं, तदा वैराग्यमस्ति ते ॥ ५॥

नित रहित विषयासक्तिसे तू विषयसुख जब त्यागता 'इस से अलं' यह सोचकर फिर योगपथ स्वीकारता । वैराग्य तेरा तब विलक्षण व्यक्त होता हे विभो ! अब किस तरह हे भवविरहदाता ! स्तवुं मैं आपको ? ।। ५ ।।

सुखे दुःखे भवे मोक्षे, यदौदासीन्यमीशिषे । तदा वैराग्यमेवेति, कुत्र नाऽसि विरागवान् ? ॥ ६ ॥

ऐश्वर्य औदासीन्यका तव जब प्रसरता है विभो ! सुख-दुःखके अरु मोक्ष-भवके द्वन्द्वमें स्वयमेव तो । वैराग्य तो खिल जाय तेरा तब जिनेश्वर ! पूर्णतः अब सोचुं मैं कि विराग तेरा किस विषयमें ना स्वतः ? ।। ६ ।।

दुःखगर्भे मोहगर्भे, वैराग्ये निष्ठिताः परे । ज्ञानगर्भं तु वैराग्यं, त्वय्येकायनतां गतम् ॥ ७॥

वैराग्य तो है त्रिविध, पहला दुःख गर्भित, दूसरा-है मोहगर्भित, ज्ञान से गर्भित तथा है तीसरा । ?सब हैं भरे दुःख-मोहगर्भ-विराग से परतीर्थिकों तू ज्ञानगर्भ-विरागका घर एक ही है हे विभो ! ॥ ७॥

औदासीन्येऽपि सततं, विश्वविश्वोपकारिणे । नमो वैराग्यनिध्नाय, तायिने परमात्मने ॥ ८ ॥

माध्यस्थ्य की सुमधुर सुरभि से सभर तू मनभर विभो ! उपकार तो भी जग-सकल पर निरन्तर करता रहे वैराग्य की ऐसी अनूठी-भूमिका-आरूढ हे ! रक्षक ! समूचे विश्वके, परमात्मतत्त्व ! नमन तुझे || ८ ||

इति वैराग्यस्तवः







- कि मोक्षमें भी वह अकुंठित-वीर्यसे नित उल्लसे / कि मोक्षमें भी उल्लसे विभु ! वह अकुंठित-वीर्यसे. ।। पाठां. ।।
- वैराग्य है परतीर्थिकों में प्रथम दोनों भेद-सा प्रभु, ज्ञानगर्भित सिर्फ तेरे हृदयमें ही रह बसा ।। पाठां. ।।

त्रयोदशः प्रकाश : ॥

अनाहूतसहायस्त्वं, त्वमकारणवत्सलः । अनभ्यर्थितसाधुस्त्वं- त्वमसम्बन्धबान्धवः ॥ १॥

बे-बुलाये भी हुए तू है सहायक विश्वका निरपेक्ष तू वात्सल्य-सागर है समूचे विश्वका । बिन-याचना के भी करत उपकार सबका तू सजन ! रिश्ता नहीं तो भी सभीका नाथ ! तू हो बन्धुजन || १ ||

अनक्तस्निग्धमनस- ममृजोज्ज्वलवाक्पथम् । अधौतामलशीलं त्वां, शरण्यं शरणं श्रये ॥ २॥

निःस्नेह होते भी सभर वात्सल्य से तव चित्त है मार्जन बिना भी वचन-पथ तेरा अतीव पवित्र है । धोये बिना भी सहज-निर्मल देह तव अरु करण है हे शरणभूत ! तिहार अद्भुत चरणकी ग्रहुं शरण मैं ।। २ ।।

अचण्डवीरवृत्तिना, शमिना शमवर्त्तिना । त्वया काममुकुट्यन्त, कुटिलाः कर्मकण्टकाः ॥ ३॥ सौम्यत्व-मण्डित वीरताके धनिक ! आप अपाप हो उपशम-सुधारसका खजाना और आप अमाप हो । यमराज-सा फिर भी भयानक ढंग देखा आपका जब कुटिल कर्मोंकी मरम्मत आपने कर दी भला ! ॥ ३ ॥

अभवाय महेशाया- ऽगदाय नरकच्छिदे । अराजसाय ब्रह्मणे, कस्मैचिद् भवते नमः ॥ ४॥

89

है प्रकट रत्ननिधान सच्चा नाथ ! तू मेरे लिए बिनु-याचनाके भी वरद तू कल्पतरु मेरे लिए । चिन्तामणी तू है अचिन्तित-लाभकर मेरे लिए मैं तो समर्पित हो चुका बस एक तेरे चरणमें ।। ७ ।।

अगोपिते रत्ननिधाववृते कल्पपादपे । अचिन्त्ये चिन्तारत्ने च, त्वय्यात्माऽयं मयाऽर्पितः ॥ ७ ॥

निःसंग तो भी ईश जगका जगत-वल्लभ नाथ तू निर्मम तथापि कृपा-महोदधि परमदुर्लभ नाथ तू । मध्यस्थ होते भी हुए त्राता जगतका देव तू अक्रीत मैं तव दास मालिक मात्र मेरा एक तू ा। ६ ॥

असङ्गस्य जनेशस्य, निर्ममस्य कृपात्मनः । मध्यस्थस्य जगत्त्रातुरनङ्कस्तेऽस्मि किङ्करः ॥ ६ ॥

सिंचन बिना भी पुष्ट जो होता सुफल वह आप हो गौरव-लचीले तदपि जिनका पतन नहि वह आप हो । फल जो अकल्पित दे सके वह कल्पतरु भी आप हो करु आश मैं फलकी जिनेश्वर ! क्यों नहीं फिर आप से ?

अनुक्षितफलोदग्रा-दनिपातगरीयसः । असंकल्पितकल्पद्रो-स्त्वत्तः फलमवाप्नुयाम् ॥ ५॥

भव नहि, तथापि महेश तू, नहि विष्णु तो भी नरक को उच्छेद करता तू, रजोगुण नहि तथापि ब्रह्म तू । हे परम अगम अकल अगोचर अलख आतमराम ! तू तुजकोनमन, तुजकोनमन, जिनराज! तुजकोनमनहो!।।४।।

फलानुध्यानवन्ध्योऽहं, फलमात्रतनुर्भवान् । प्रसीद यत्कृत्यविधौ, किंकर्तव्यजडे मयि ॥ ८ ॥

है साधनाका फल परमपद, नाथ ! तू तदरूप है नहि लेश फलके लाभकी चिन्ता मुझे जिनभूप ! है । मैं कमअकल दिग्मूढ हूं, अब क्या करुं यह नहि पता करके कृपा करुणालु हे ! कर्तव्य-पथ मुजको बता ।। ८ ।।

इति हेतुनिरासस्तवः ॥





राजा कुमारपाळ

83

चतुर्दशः प्रकाश : ।।

मनोवचःकायचेष्टाः, कष्टाः संहृत्य सर्वथा । श्लथत्वेनैव भवता, मनःशल्यं वियोजितम् ॥ १॥ मन-तन-वचनकी कष्टमय चेष्टा सभी जिनवर ! प्रथम संकेल ली, कर दी तथा मनकी सभी ताकत खतम । हे योगिवर ! सब योगसे पर ! इस तरह प्रभुवर ! निजी मन-शल्यकाक्षय आपने फिर कर दिया हे नाथजी ! ॥ १॥

संयतानि न चाऽक्षाणि, नैवोच्छृङ्खलितानि च । इति सम्यक् प्रतिपदा, त्वयेन्द्रियजयः कृतः ॥ २॥ प्रभुजी ! कभी बन्धन न लादा इन्द्रियों पर आपने स्वच्छन्द होने भी दिया नहि इन्द्रियों को आपने । क्या खूब इन्द्रिय-विजयका यह तो तरीका आपका ! इस से जुदा भी हो सके क्या मार्ग 'मध्यम' नामका ?॥ २॥

योगस्याष्टाङ्गता नूनं, प्रपञ्चः कथमन्यथा । आबालभावतोऽप्येष, तव सात्म्यमुपेयिवान् ॥ ३॥

"है योगके अड अंग, फिर वह सीखने के बाद ही योगी बना जाता", किसीकी बात यह नहि है सही। तादात्म्य तेरा क्यों कि बचपन से सधा है योग से समझाउं यह कैसे विभो। मैं उन-अधूरे-लोग से ? || ३ ||

विषयेषु विरागस्ते, चिरं सहचरेष्वपि । योगे सात्म्यमदृष्टेऽपि, स्वामिन्निदमलौकिकम् ! ॥ ४ ॥

88

फिर आश्रितों की भी उपेक्षा की कदाचित आपने । अतिगहन और विचित्र तेरा यह चरित्र निहारकर सब स्तब्ध हैं, नहि पूछ भी ⁹सकते कि ऐसा क्यों मगर ?।। ६।। तथा समाधौ परमे, त्वयाऽऽत्मा विनिवेशितः । सुखी दुःख्यस्मि नास्मीति, यथा न प्रतिपन्नवान् ॥ ७॥ ऐसी अचल-अविकल्प-अनुपम नाथ ! परम समाधि में आत्मा प्रतिष्ठित आपने कर दी स्वयं-अनुभूतिमें । जिससे कि सुख या दुःखका अनुभव न रह पाया तुझे अनुभूति यह बखशो मुझे भी देव हे करुणानिधे ! ॥ ७॥

हिंसका अप्युपकृता, आश्रिता अप्युपेक्षिताः । इदं चित्रं चरित्रं ते, के वा पर्यनुयूञ्जताम् ।। ६ ।।

जो मारने आये तुम्हें उनको बचाये आपने

अपकार तुज पर जो करे उनके उपर भी तू यथा करुणा वहावे हे अकारण-जगत-बन्धु ! नहीं तथा ! उपकारियों पर भी कभी करते सभी उपकार वे परतीर्थिकों, सब ही अलौकिक आपका भगवंत हे ! !! ५ !!

तथा परे न रज्यन्त, उपकारपरे परे । यथाऽपकारिणि भवान्, अहो ! सर्वमलौकिकम् ॥ ५॥

चिरकाल से मालिक ! जिन्होंने साथ तो तुज को दिया उन विषय-भोगोंके उपर वैराग्य तुमने पा लिया । शायद कभी भी मुख न देखा योग का था आपने तादात्म्य कैसे हो गया उसका अहो ! फिर आपसे ? ।। ४ ।।

ध्याता ध्येयं तथा ध्यानं, त्रयमेकात्मतां गतम् । इति ते योगमाहात्म्यं, कथं श्रद्धीयतां परैः ? ॥ ८ ॥

हे नाथ ! तेरी ध्यानकी है प्रक्रिया भी अजब-सी अद्वैत जिसमें ध्यान-ध्याता-ध्येयका होता सही इस योग-महिमाके उपर परतीर्थियों तव नाथजी ! श्रद्धा करे तो भी करे कैसे ? बताओ यह अजी ! || ८ ||

इति योगशुद्धिस्तवः ॥





राजा कुमारपाळ

१. पाते - पाठां. ॥

୪६

पञ्चदशः प्रकाश : ।।

जगज्जैत्रा गुणास्त्रातर् ! अन्ये तावत् तवाऽऽसताम् । उदात्तशान्तया जिग्ये, मुद्रयैव जगत्त्रयी ॥ १॥ विभु ! है अनन्त विशिष्टताएं जग-विलक्षण आपकी कितनी गिनाउं ? सिर्फ एक विशेषता कहुं बापजी ! । यह परम शान्त-उदात्त-अनुपम-वदनमुद्रा ही विभो ! हैभुवन-जन-मन-मोहिनीअरु विश्वविजयी तव अहो ! ॥ १॥

मेरुस्तृणीकृतो मोहात्, पयोधिर्गोष्पदीकृतः । गरिष्ठेभ्यो गरिष्ठो यैः, पाप्मभिस्त्वमपोदितः ॥ २॥

जिन पापियों ने पापके उन्मादवंश मरजादको-तज के किया है श्रेष्ठतम विभु ! आपका अपवाद तो । उन मूढ लोगों ने सुमेरु-गिरीन्द्रको तृण-सा गिना फिर छीछरा तालाब सागरको उन्होंने भी गिना ॥ २ ॥

च्युतश्चिन्तामणिः पाणेस्तेषां लब्धा सुधा मुधा । यैस्ते शासनसर्वस्वमज्ञानैर्नात्मसात्कृतम् ।। ३ ।।

जिन लोगने पाकर तुम्हारा भव्य जिनशासन अहा ! अज्ञानवश कर दी उपेक्षा नाथ ! उसकी भी महा | उन लोगने चिंतामणी पा कर गंवाया हाथसे पीयूष भी पाकर उन्होंने ढोल डाला ठाठसे ।। ३ ।।

यस्त्वय्यपि दधौ दृष्टि- मुल्मुकाकारधारिणीम् । तमाशुशुक्षणिः साक्षा- दालप्याऽलमिदं हि वा ॥ ४ ॥

86

हे नाथ ! जगदाधार तू, दिलदार तू, तव धर्मके-पीयूषरस से स्नान जो करते अहर्निश धन्य वे । उनको नमन करुं मैं समर्पुं भाव-अंजलि भी उन्हें उनकी करूं समुपासना; हो राग शासनका हमें ।। ७ ॥

तेभ्यो नमोऽञ्जलिरयं, तेषां तान् समुपास्महे । त्वच्छासनामृतरसै - यैरात्माऽसिच्यताऽन्वहम् ॥ ७॥

हे देव ! जिनके चित्तमें मात्सर्य तेरे उपर है वे बोकडे नहि है भले, तो भी बनो वे बोबडे ! विभु ! क्योंकि भारेकर्मियोंकी विकलता यह-देहकी उनके शुभोदयका बनेगी हेतु भावीमें सही ॥ ६॥

अनेडमूका भूयासु-स्ते येषां त्वयि मत्सरः । शुभोदर्काय वैकल्यमपि पापेषु कर्मसु ॥ ६ ॥

तव धर्म लोकोत्तर, व लौकिक अन्यदर्शन है सभी फिर भी 'यह व वह एक-से सब' यों कहे जो मुग्धधी। लगता कि उनकी रायमें पीयूष एवं जहरमें -कोई फरक नहि; और उजडे-गांवमें अरु शहरमें॥ ५॥

त्वच्छासनस्य साम्यं ये, मन्यन्ते शासनान्तरैः । विषेण तुल्यं पीयूषं, तेषां हन्त ! हतात्मनाम् – ॥ ५ ॥

मात्सर्यके-अंगार-सी जलती नजर से तो तुझे जिनराज ! जो है देखता साक्षात अब अग्नि उसे **।** (ले लिपट); अथवा बात यह नहि सोहती मुझ जीभ पर अनुरूप-उनकी-पात्रता के फल मिलेगा ही मगर ।। ।। ४ ।।

Jain Education International

For Private & Personal Use Only

www.jainelibrary.org

राजा कुमारपाळ





श्री हेमचंद्राचार्य

हे देव ! त्रिकरण-योग से अब बन चुका तुज भृत्य मैं ॥ ९ ॥ इति भक्तिस्तवः ॥

जन्मवानस्मि धन्योऽस्मि, कृतकृत्योऽस्मि यन्मुहः । जातोऽस्मि त्वद्गुणग्राम-रामणीयकलम्पटः ॥ ९॥

तेरे अनघ-गुणवृन्द-की रमणीयताका आज मैं आशिक बना हूँ नाथ ! मेरे हृदयके सरताज हे ! जन्म मेरा आज सार्थक, धन्य मैं, कृतकृत्य मैं

तुज चरणके नख-किरण बनते सरमुकुट जिस भूमिके उस भूमिको शत शत करूं प्रणिपात मैं जगतात है ! । हे अभय ! अस्मय ! अक्षय ! अव्यय ! सदय ! चिन्मय ! देव हे ! इससे अधिक कुछ बोलना अब उचित नहि लागत मुझे ।। ८ ।।

भुवे तस्यै नमो यस्यां, तव पादनखांशवः । विरं चूडामणीयन्ते, ब्रूमहे किमतः परम् ! ।। ८ ।।

षोडशः प्रकाश : ॥

त्वन्मताऽमृतपानोत्था- इतः शमरसोर्मयः । पराणयन्ति मां नाथ ! परमानन्दसम्पदम् ॥ १॥

जिनमत-सुधा-रस-पान से इक और जब मुझ हृदयमें उपशम-परम-मधु-रसकी आती ऊर्मियाँ विभु ! उदयमें । आनन्द-पारावार उछले मन-भुवनमें जो तभी शाश्वत बनो वह पल विभो ! चाहत यही मेरी अभी ।। १ ।।

इतश्चाऽनादिसंस्कार-मूच्छितो मूच्छयत्यलम् । रागोरग-विषावेगो, हताशः करवाणि किम् ? ॥ २॥

उस और किन्तु मन-गुहामें रहा काल-अनादि से विषधर भयानक राग-नामक विषय-विष-भरपूर जो । अपने जहरकी आग से मुझ चेतना के बाग को ऊजाडता वह सतत; अब मैं क्या करूं हत-आश तो ? ।। २ ।।

रागाहिगरलाघ्रातोऽकार्षं यत् कर्मवैशसम् । तद् वक्तुमप्यशक्तोऽस्मि, धिग् मे प्रच्छन्नपापताम् ॥ ३ ॥

विकराल विषधर रागनामक चित्तभ्रामक जब डसा उसके जहरकी असरसे मैं दुष्टतामें जा फंसा । तब जो हुए अपकृत्य मुझसे, नाथ ! क्यों कर वह कहूं ? प्रच्छन्न पापी मैं ही मुझको हाय ! अब धिक धिक कहूं ।। ३ ।।

क्षणं सक्तः क्षणं मुक्तः क्षणं कुद्धः क्षणं क्षमी । मोहाद्यैः क्रीडयैवाऽहं, कारितः कपिचापलम् ।। ४ ॥

आसक्त पलभर दिल बने, फिर पलकमें ही विरक्त भी, क्षणमें बने मन क्रुद्ध, फिर क्षणमें ही प्रशम प्रबुद्ध भी। इसबिध विविध-मोहादि-दोषोंने किया खिलवाड तो नादान-वानर-तुल्य-मेरे साथ; अब थाक्यो विभो ! ।। ४ ।।

प्राप्यापि तव सम्बोधिं, मनोवाक्कायकर्मजैः । दुश्चेष्टितैर्मया नाथ ! शिरसि ज्वालितोऽनलः ॥ ५॥

हे शुभ-गुणाकर देव ! पाकर शुद्ध बोधि आपसे मैंने अनर्थ रचे बडे मन-वचन-कायिक पापसे । मैंने लगाई आग मेरे हाथ मेरे सर उपर मेरी अनिष्ट व दुष्ट चेष्टासे; जगत-कल्याणकर ! ।। ५ ।।

त्वय्यपि त्रातरि त्रातर् ! यन्मोहादि-मलिम्लुचैः । रत्नत्रयं मे ह्रियते, हताशो हा ! हतोऽस्मि तत् ॥ ६ ॥

हे तात ! त्राता तू मिल्यो जगको शरनदाता मुझे मोहादि-लूटेरे बडे लुटने खडे तो भी मुझे । रत्नत्रयीको लूटकर बरबाद वे करते मुझे भग्नाश-मैं यह त्रास कैसे सहुं ? बचाओ ! अब मुझे ।। ६ ।।

भ्रान्तस्तीर्थानि दृष्टस्त्वं, मयैकस्तेषु तारकः । तत् तवांह्रौ विलग्नोऽस्मि, नाथ ! तारय तारय ।। ७ ।।

है तीर्थ जितने जगतमें धरि आश भटका सब जगह जितने जगतमें देव सबको भजे तरने की वजह । तारक न पाया किन्तु कोई, हार कर तुझ-चरनमें आया, उगारो नाथ ! अब तो लो मुझे निज-शरनमें ।। ७ ।।

भवत्प्रसादेनैवाऽह- मियतीं प्रापितो भुवम् । औदासीन्येन नेदानीं, तव युक्तमुपेक्षितुम् ॥ ८॥

मेरी समझमें आज ही आया कि मैं जिनराज हे। पहुंचा यहां तक आपकी पावन कृपाके दान से। जगबन्धु ! करुणासिन्धु ! मेरी अब उपेक्षा क्यों करो ? मुझ को गलत-तकदीर के जिनवर ! हंवाले क्यों करो ? ।। ८ ।।

ज्ञाता तात ! त्वमेवैक - स्त्वत्तो नान्यः कृपापरः । नान्यो मत्तः कृपापात्र- मेधि यत्कृत्यकर्मठः ।। ९ ।।

ज्ञानी नहीं तुम-बिन कहीं हे देव ! सारे जगतमें निष्काम करुणावंत हे भगवंत ! तू ही विश्व में । °मुझ सा गरीब व अधम करुणापात्र ना कोई यहां २पर्याप्त है इतना निवेदन, गर सुनो शाहेजहां ! ।। ९ ।।

इति आत्मगर्हास्तवः ।।



- मुझ-सा गरीब व अधम करुणापात्र भी कोई नहीं पाठां. ।।
- अब उचित-अनुचित-कृत्य क्या ? यह बात जानो आप ही !! अथवा - अब उचित-अनुचित-कृत्यकी तो आपके ऊपर रही - !! पाठां. !!

स्वकृतं दुष्कृतं गर्हन्, सुकृतं चानुमोदयन् । नाथ ! त्वच्चरणौ यामि. शरणं शरणोज्झितः || 9 ||

गर्हा करुं अपने किए सब दुष्कृतोंकी हे प्रभो ! सत्कर्म जो मैंने किए उनकी करुं अनुमोदना । अशरण बनी भवरण भमत हे नाथ ! जीवन-साथ हे ! तव चरण में चाहूं शरण ज्यौं मिटत भवकी वेदना ।। १ ।।

मनोवाक्कायजे पापे, कृतानुमतकारितैः । मिथ्या मे दुष्कृतं भूया- दपुनःक्रिययाऽन्वितम् ॥ २ ॥

बहु पाप करवाए, किए, अनुमोदना भी खूब दी मनसे, वचनसे, बदनसे, हे सांइ ! बिगरी जिंदगी । निश्चय करुं फिरसे न करनेका. किए सब पापकी याचुं क्षमा भगवंत ! स्वीकारो हमारी बंदगी ॥ २ ॥

यत्कृत सुकृतं किञ्चिद्, रत्नत्रितयगौचरम् । तत्सर्वमनुम्न्येऽहं, मार्गमात्रानुसार्यपि

|| 3 || रत्नत्रयी के अंश का भी आचरण सत्कर्म है

सन्मार्गका अत्यल्प भी अनुसरण भी सत्कर्म है। मार्गानुसरण शुभाचरण जो बन पडा मुझसे विभो !

त्वां त्वत्फलभूतान् सिद्धां- स्त्वच्छासनरतान् मूनीन् । त्वच्छासनं च शरणं. प्रतिपन्नोऽस्मि भावतः 11 8 11

अनुमोदना सब की करुं, यह भी सरस शुभकर्म है।। ३।।

मैं हूं अकेला, इस जगतमें कोइ भी मेरा नहीं अनुबन्ध मेरा अन्य कोई से तथा कुछ भी नहीं । अशरण-शरण भवजल-तरण जिन-चरणको आधीन हूं निजरूप-अनुभव-लीन अब मैं हीन नहि, ना दीन हूं।। ७।।

एकोऽहं नास्ति मे कश्चिन्न चाहमपि कस्यचित् । त्वदंघ्रिशरणस्थस्य, मम दैन्यं न किञ्चन ॥ ७॥

मत्र्यस्तु तपु सवपु, त्यदकरारणस्य म ा। ६॥ तेरे पतितपावन चरणकी शरण पाकर देव ! मैं । प्रार्थुं क्षमा प्रत्येक प्राणीसे परम सद्भावसे । जगके सकल जीवों प्रति अर्पित करूं मैं भी क्षमा सब मित्र मेरे, मैं सभी का मित्र शुद्ध स्वभाव से ।। ६ ।।

क्षमयामि सर्वान् सत्त्वान्, सर्वे क्षाम्यन्तु ते मयि । मैत्र्यस्तु तेषु सर्वेषु, त्वदेकशरणस्य मे ॥ ६ ॥

अर्हंत आदिक परम पावन चित्तभावन पूज्यगण उनमें अनावृत और विकसित जो हुए हैं आत्मगुण । अनुमोदना प्रमुदित हृदय से उन सभी की मैं करुं पाऊं परम गुणरागसे गुणवृन्द आत्मिक-जागरण ॥ ५ ॥

सर्वेषामर्हदादीनां, यो योऽर्हत्त्वादिको गुणः । अनुमोदयामि तं तं, सर्वं तेषां महात्मनाम् ॥ ५॥

हे नाथ तीनों भुवनके ! तुम चरणकी मैं शरण लूं । कर साधना फल सिद्धि पाए - सिद्ध प्रभुकी शरण लूं । मैत्री-मधुर जिनधर्म में रत-साधु-पदकी शरण लूं श्री जैनशासन की हृदयके भावसे मैं शरण लूं ।। ४ ।।

यावन्नाप्नोमि पदवीं, परां त्वदनुभावजाम् । तावन्मयि शरण्यत्वं, मा मुञ्च शरणं श्रिते ॥ ८ ॥

जब तक न पाऊं परम पदवी अचल-अक्षय-शिवमयी जिनराज ! जगशिरताज ! तेरी पुनित करुणासे भई | हे शरण-आगत-भक्त-वत्सल ! यशधवल ! तब तक मुझे आश्रय हमेशा निज-चरणमें बख्शना, प्रार्थुं तुझे – ।। ८ ।।

इति शरणगमनस्तवः ॥







राजा कुमारपाळ

अष्टादशः प्रकाश : ।।

न परं नाम मृद्वेव, कठोरमपि किञ्चन । विशेषज्ञाय विज्ञप्यं, स्वामिने स्वान्तशुद्धये ।। १ ।।

ईश के आगे न केवल वचन कोमल ही कहो ⁹हे हृदय ! पूरे विनय से पर कुछ चिकित्सा भी करो ! निर्मूल होगी सब कुशंका चित्त की इस ही तरह बाकी स्वयं सर्वज्ञ है स्वामी हमारा मित्र ! यह ॥ १॥

न पक्षिपशुसिंहादिवाहनासीनविग्रहः । न नेत्रगात्रवक्त्रादिविकारविकृताकृतिः ॥ २॥

विभु ! आप कैसे देव ? जो नहि बैठते पशुओं-उपर पक्षी-उपर नहि, नहि व हिंसक-सिंह-से-प्राणी-उपर । विभु ! आप कैसे देव हो ? जिनके बदन की आकृति नहि विकृत नहि व डरावनी; अतिशय परंतु सुहावनी ।। २ ।।

न शूलचापचक्रादिशस्त्राङ्ककरपल्लवः ।

नाङ्गनाकमनीयाङ्ग-परिष्वङ्गपरायणः ॥ ३॥

विभु ! आप कैसे देव ? जिनके फक्त दो कर हैं, तथा करमें न तीर, नहि त्रिशूल, न चक्र अरु तलवार ना । विभु ! आप कैसे देव ? जिनकी गोदमें रूपांगना-नहि खेलती है एक भी व कदापि; अचरज यह बडा ।। ३ ।।

न गर्हणीयचरित- प्रकम्पितमहाजनः । न प्रकोप-प्रसादादि- विडम्बितनरामरः ।। ४ ॥

नहि अन्य-देवों सा घृणास्पद आचरण है आपका जो देखकर ही कांपते थर थर सभी-सज्जन-महा | विभु ! और-देवों-के मुआफिक आप ना वरदान दो नाराज होकर फिर किसीको शाप भी ना आप दो || ४ ||

न जगज्जननस्थेम,- विनाशविहितादरः । ना लास्यहास्यगीतादिविप्लवोपप्लुतस्थितिः ॥ ५॥

विभु ! आप कैसे देव हो ? जो जगतके-निर्माण या पालन अगर संहारका कर्तृत्व नहि रखते कदा । उपहास एवं नृत्य-तांडव, गान-मुजरा का तथा बेशरम-वर्तन आपमें दिखता न, औरों में यथा ॥ ५॥

तदेवं सर्वदेवेभ्यः, सर्वथा त्वं विलक्षणः । देवत्वेन प्रतिष्ठाप्यः, कथं नाम परीक्षकैः ? ॥ ६ ॥

इस तरह दुनियाके सभी भी देवताओं से जुदा एवं विलक्षण तू बना है हे परमगुरु !, या खुदा ! । ऐसे विलक्षण देवको अब सब परीक्षक लोग तो कैसे प्रमाणित देवताके-रूपमें करते ? कहो ! ।। ६ ।।

अनुश्रोतः सरत् पर्ण- तृणकाष्ठादि युक्तिमत् । प्रतिश्रोतः श्रयद्वस्तु, कया युक्त्या प्रतीयताम् ? ।। ७ ।।

अनुरूप वारि-प्रवाहमें जो तृण वगैरह तैरते वे लक्ष्यहीन भले रहे तो भी कहीं तो ण्हुंचते । विपरीत-किन्तु प्रवाहमें जो तैरता है वह अगर है पहुंचता निज लक्ष्य पर, यह मानना कैसे मगर ? ।। ७ ।।

अथवाऽलं मन्दबुद्धि- परीक्षकपरीक्षणैः । ममापि कृतमेतेन, वैयात्येन जगत्प्रभो ! ॥ ८ ॥

अथवा, सभी हैं वे परीक्षक मन्दबुद्धिके धनी अत एव नहि उनकी-परीक्षा का जरा-सा अर्थ भी । मैं ने चिकित्सा जो करी वह भी अजुगता खेल था गजराज कीभी परख कर सकता कभी भी बैल क्या ? ।। ८ ।।

यदेव सर्वसंसारि- जन्तुरूपविलक्षणम् । परीक्षन्तां कृतधिय- स्तदेव तव लक्षणम् ॥ ९॥

प्राणी अनन्तानन्त बरते इस सकल संसार में प्रत्येक प्राणी दूसरोंसे है जुदा आकारमें । उन सब स्वरूपों से निराला जगविलक्षण आपका जो है निहाला मान्य-लोगों ने वही लक्षण खरा ा। ९ ।।

क्रोध-लोभ भयाक्रान्तं, जगदस्माद् विलक्षणः । न गोचरो मृदुधियां, वीतराग ! कथञ्चन ॥ १०॥ आवेश, लोभ व भीति से जग है भरा विभु !, सर्वथा-इन-वासनाओं से-रहित जितदोष ! तू प्रभु ! है तथा । अल्पमतियोंकी-पहुंचसे दूर है जिन-सूर ! तू नहि वर्ण्य, नहि उपमेय, तदपि अमेय-गुण-भरपूर तू॥ १०॥

इति कठोरोक्तिस्तवः ॥



१. हे हृदय ! पूरे विनयपूर्वक कटुवचन भी तो कहो ! - पाठां. ।।

एकोनविंशः प्रकाशः ॥

तव चेतसि वर्त्तेऽहमिति वार्ताऽपि दुर्लभा । मञ्चित्ते वर्त्तसे चेत्त्व- मलमन्येन केनचित् ॥ १॥

हे सांइ दुनियाके ! तुम्हारे हृदयमें मेरा स्मरण हो जाय-ऐसी बात भी है परम दुर्लभ-कोइ दिन । पर मुझ हृदयमें अगर होगी आपकी पधरामणी तो काम क्या है दूसरोंका ? आप बस मेरे धनी ।। १ ।।

निगृह्य कोपतः कांश्चित्, कांश्चित् तुष्ट्याऽनुगृह्य च । प्रतार्यन्ते मृदुधियः, प्रलम्भनपरैः परैः ॥ २॥

वे क्रोधमें आ कर किसीका कोइ दिन निग्रह करे संतुष्ट होकर वे किसी पर फिर अनुग्रह भी करे । ठगते रहे भोले जगतको इस तरह सब देव वे जाए कहां मुझ-सा-अबुझ ? कह दो मुझे जिनदेव हे ! । २ ।।

अप्रसन्नात् कथं प्राप्यं, फलमेतदसङगतम् । चिन्तामण्यादयः किं न, फलन्त्यपि विचेतनाः ॥ ३॥

"जो देव रागविहीन है वह खुश नहीं होगा कभी फल किस तरह उससे मिलेगा ?"- यह कुशंका है अजी ! I देखो कि चिन्तारत्न तो जड चीज है फिर भी अगर-१ फल दे सके, तो क्यों न दे फल जिन- २ परम चैतन्यमय ? II ३ II

वीतराग ! सपर्याऽपि, तवाऽऽज्ञापालनं परम् । आज्ञाऽऽराद्धा विराद्धा च, शिवाय च भवाय च ॥ ४॥

हे देव ! आज्ञा पालना भी आपकी है पूजना परिशुद्ध अरु श्रद्धा विभूषित हो अगर वह पालना | आज्ञा-विराधन से बढे संसार - यह निश्चित सही आराधना से और उसकी मोक्ष निकट बने सही || ४ ||

अकालमियमाज्ञा ते, हेयोपादेयगोचरा । आश्रवः सर्वथा हेय- उपादेयश्च संवरः ॥ ५॥

आज्ञा सनातन अरु त्रिकालाबाध्य जिनवर ! आपकी, यह हेय है, आदेय यह, इतना बताती नित्य ही । 'आश्रव हमेशा हेय है' यह भाग आज्ञाका प्रथम, 'आदेय संवर है सदा'३यह भाग उसका है चरम ।। ५ ।।

आश्रवो भवहेतुः स्यात्,, संवरो मोक्षकारणम् । इतीयमार्हती मुष्टि- रन्यदस्याः प्रपञ्चनम् ॥ ६॥ आश्रव बने संसारके विस्तार का कारण महा संवर बने संसारसे निस्तार का कारण अहा !।

यह है रहस्य समग्र-तीर्थंकर-कथित-उपदेशका सब आगमों तो है इसीके विस्तरण परमार्थका ।।

इत्याज्ञाराधनपरा, अनन्ताः परिनिर्वृताः । निर्वान्ति चाऽन्ये क्वचन, निर्वास्यन्ति तथाऽपरे ।। ७ ॥

पालन जिनाज्ञाका सरस करते परमपद पा लिया-गतकालमें बहु जीवने निज-आत्म-हित यूं कर लिया । कुछ आतमाएं पा रही है मोक्ष सांप्रतकालमें बहु आतमाएं पा सकेंगी अरु अनागत कालमें ।। ७ ।।

हित्वा प्रसादनादैन्य मेकयैव त्वदाज्ञया । सर्वथैव विमुच्यन्ते, जन्मिनः कर्मपञ्जरात् ॥ ८ ॥

जो दीन बन सकता स्वयं वह ही किसी भी देव को संतुष्ट करके पा सके वरदान मनचाहा विभो ! । ⁸झंझट अगर सब छोड बस आज्ञा तुम्हारी मान ले तो कर्म-पिंजरसे सभीको मोक्ष झटपट आ मिले ।। ८ ।।

इति आज्ञास्तव : ।।



- फल दे सके वह, तो परम चैतन्यमय जिन क्यों न दे ? पाठां ॥
- २. परमऊर्जासभर- पाठां. ॥
- ३. यह दूसरा उसका चरण पाठां. ।।
- झंझट सभी यह छोड कर गरतव वचनकी सेवना की जाय तो सबकी फलेगी परमपदकी खेवना- पाठां. ।।

ξ٩

विंशतितमः प्रकाश : ।।

पादपीठलुठन्मूर्धिन, मयि पादरजस्तव। चिरं निवसतां पुण्य - परमाणुकणोपमम् ॥ १॥ मैं टेकता हूं शीश मेरा देव ! तव पदपीठ पर तुझ चरणधूली बरसने दो अब विभो ! उसके उपर । वह धूलिकण बन जाएगा मेरे लिए चिरकाल तक तेरी कृपासे नाथ ! मेरे पुण्यका परमाणु-कण ॥ १॥

मद्दुशौ त्वन्मुखासक्ते, हर्षबाष्पजलोर्मिभिः । अप्रेक्ष्यप्रेक्षणोद्भुतं, क्षणात् क्षालयतां मलम् 🛛 🛮 २ 🖊

मेरी निगाहें आपके मुख-चन्द्र पर आसक्ति से है चिपकती फिर भीगी होती हर्ष एवं भक्ति से। चिरकाल से नहि-देखने-लायक-बहुत कुछ देखते जो मैल एकट्ठा हुआ, लगता कि धोती वे9 उसे ।। २ ।।

त्वत्पुरो लुठनैर्भूयान्, मद्भालस्य तपस्विनः । कृतासेव्यप्रणामस्य प्रायश्चित्तं किणावलिः ॥ ३ ॥

मेरे ललाट उपर पडे जो घावर उससे, वह सहूं।

सेवा-न-करने-योग्यकी जो-सेवना मैंने करी

मम त्वद्दर्शनोद्भूता- श्चिरं रोमाञ्चकण्टकाः ।

नूदन्तां चिरकालोत्था मसद्दर्शनवासनाम् 🛛 🛮 🖉 🕬

तेरे चरणके सामने भूलुठन मैं करता रहूं

वह घाव प्रायश्चित्त बन जाओ उसीका देव री ! || ३ ||

६२

निर्वीर्य यद्यपि देव ! वाणी है हमारी सुस्त तो तो भी अगर तुज गुणकथामें रसिक एवं चुस्त वो-होगी, तभी तो ठीक है, इससे अपेक्षा अधिक ना-उससे; सदा कल्याण उसका, काम है क्या अन्यका ? ।। ७।।

कुण्ठाऽपि यदि सोत्कण्ठा, त्वद्गुणग्रहणं प्रति । ममैषा भारती तर्हि, स्वस्त्येतस्यै किमन्यया ? ॥ ७॥

तुज मुखकमल पर नित्य रमते नयन मेरे हो सदा करता रहे कर-युग्म मेरा नित्य तुज पद-सेवना । सार्थक बनो मुज कर्णयुग गुणगान सुनते आपका हे नाथ ! मेरी एक ही है हृदय से यह प्रार्थना ॥ ६ ॥

त्वदास्यलासिनी नेत्रे, त्वदुपास्तिकरौ करौ । त्वद्गुणश्रोतृणी श्रोत्रे, भूयास्तां सर्वदा मम 🛛 ।। ६ ।।

है नाथ ! तेरा वदन पूनमका मनोहर चन्द्रमा उससे उगलती दीप्ति है ज्योत्स्ना अतीव मनोरमा । अमृत-सी-उस-मधुर-दीप्तिका सरस-रसपान कर बन जाय नित-विकसित विभो ! मेरे नयनके- दो कमल॥ ५॥

त्वद्वक्त्रकान्तिज्योत्स्नासु, निपीतासु सुधास्विव । मदीयैर्लोचनाम्भोजैः, प्राप्यतां निर्निमेषता ॥ ५ ॥

जब आपकी सुन्दर सलोनी मूर्तिके दर्शन करुं रोमांच जो होता तभी उसका न वर्णन कर सकुं । अब चाहुं इतना ही कि इस रोमांचके माहात्म्यसे में छूटुं चिरकालीन-मिथ्या-वासना-तादात्म्यसे ॥ ४॥

तव प्रेष्योऽस्मि दासोऽस्मि, सेवकोऽस्म्यस्मि किङ्करः । ओमिति प्रतिपद्यस्व, नाथ ! नाऽतः परं ब्रुवे ।। ८ ।।

मैं आपका नाचीज हलकारा तथा हूं दास भी फिर आपके पद-युगलका सेवक व किंकर भी सही। इस बातका हे तातजी ! इकबार कर स्वीकार लो कुछ भी कभी भी बादमें नहि मैं कहूंगा आपको ।। ८ ।।

श्री हेमचन्द्रप्रभवाद, वीतरागस्तवादितः । कुमारपालभूपालः, प्राप्नोतु फलमीप्सितम् ॥ ९॥

श्री हेमचन्द्राचार्यके-द्वारा-रचित जिनराज के इस मधुर सुन्दर "वीतराग स्तोत्र"के माहात्म्य से । श्री कुमरपाल नृपति परम-आर्हत दयापालक अहो ! पाओ अभीप्सित फल हमेशा, कामना यह है विभो ! ।। ९ ।।

इतिआशीः स्तवः ।।

श्री वीतराग-भदंतका अतिमधुर जो यह स्तोत्र था अनुवाद उसका पद्यमय यह राष्ट्रभाषामें बना । गुरुदेवकी थी प्रेरणा करुणा तथा जिनदेव की उसकी वजहसे ही अबुध-शीलेन्दुने रचना करी ।।



श्री हेमचंद्राचार्य राजा कुमारपाळ

- १. <u>है</u> पाठां. ॥
- २. घाव, अब वह भी सहूं / फिर, वह भी सहूं पाठां. ॥

